शलोक कबीर जी

टीका

ੴ

प्रोफ़ैसर साहिब सिंघ

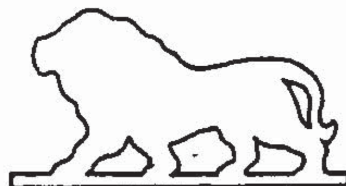
श्लोक कबीर जी
टीका

१ओं सतिगुरप्रसादि ॥

श्लोक कबीर जी
टीका

टीकाकार :

प्रोफ़ैसर साहिब सिंघ



सिंघ ब्रदर्ज़
अमृतसर

श्लोक कबीर जी टीका

टीकाकार :

प्रोफ़ैसर साहिब सिंघ

अनुवादक :

डा. परमजीत कौर

गुरु नानक गर्ल्ज़ कालिज, यमुनानगर

ISBN 81-7205-314-2

प्रथम संस्करण : जुलाई 2004

द्वितीय संस्करण : जुलाई 2007

तृतीय संस्करण : फ़रवरी 2009

मूल्य : 55-00 रुपये

प्रकाशक :

सिंघ ब्रदर्ज़

•

बाज़ार माई सेवां, अमृतसर - 143 006

•

S.C.O. 223-24, सिटी सैंटर, अमृतसर - 143 001

E-mail : singhbro@vsnl.com

Website : www.singhbrothers.com

प्रिंटर :

प्रिंटवैल्ल, 146, इंडस्ट्रीयल फ़ोकल पुआइंट, अमृतसर

विषय-सूची

हिन्दी अनुवाद के संबंध में

प्रोफ़ैसर साहिब सिंघ जैसे गुरुवाणी के ज्ञाता विद्वान् द्वारा लिखित 'श्लोक कबीर जी टीका' का हिन्दी अनुवाद करने का अवसर मुझे मिला, यह मेरा सौभाग्य है। किसी भी भाषा का अन्य भाषा में अनुवाद करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है कि अर्थों तथा भावों के स्पष्टीकरण तथा प्रकटीकरण में थोड़ा-सा भी अन्तर न रहे। इसी प्रयास में मैंने कहीं कहीं पंजाबी के कुछ शब्दों, जैसे—बख़्शश, चस्के, घाल-कमाई, दाति, बरकत, आदि का प्रयोग ज्यों का त्यों किया है। आशा है पाठकों को पंजाबी में लिखित तथा हिन्दी में अनुवाद किये गये टीके में कोई अन्तर महसूस नहीं होगा। मैं 'सिंघ ब्रदर्ज़' की आभारी हूँ जिन्होंने मुझे इस सेवा को करने का अवसर प्रदान किया।

गुरु नानक गर्ल्ज़ कालिज,
यमुनानगर

डा. परमजीत कौर

प्रारंभिक जान-पहचान

पहले पहल मुझे सन् १९२५ में पता चला कि कुछ सज्जन भक्त-वाणी को गुरमति के अनुसार न समझकर इसके विरुद्ध प्रचार कर रहे हैं। सन् १९२७ में जब कि अभी मैं शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के दफ़्तर में उपसचिव था, मुझे यह ख़बर मिली कि ये सज्जन भट्टों के सवईयों, सदु, सत्ते बलवंड की वार तथा तुखारी राग के एक छंत मः ४ को भी श्री गुरु ग्रन्थ साहिब में देखना पसन्द नहीं करते। उनके ख़याल में ये वाणियाँ भी गुरमति के अनुकूल नहीं हैं। सो, श्री गुरु ग्रन्थ साहिब की वाणी के साधारण विचार के साथ साथ इन उपर्युक्त वाणियों के संबंध में मैंने विशेष मेहनत शुरू की। जुलाई १९२९ में जब मैं गुरु नानक ख़ालसा कालिज, गुजरांवाला छोड़ चुका था, मैंने भट्टों के सवईयों का टीका लिखना शुरू किया, जो मैंने अक्तूबर नवम्बर में ख़त्म कर लिया। इस वाणी के विरोधियों में से एक मुख्य सज्जन डॉ. रण सिंघ जी गुजरांवाला में आकर टिके हुये थे। उनके साथ मेरी अच्छी गहरी मित्रता हो चुकी थी। इस टीका की सारी पाण्डुलिपि मैंने उन्हें पढ़ने के लिये दी। उन्हीं दिनों वह इस वाणी के विरुद्ध अपनी पुस्तक *भट्ट गिरा कसौटी* लिख रहे थे। मेरी पाण्डुलिपि वे बीस दिन पढ़ते रहे। आख़िर उन्होंने अपना पुराना बना ख़याल छोड़ दिया तथा मेरे साथ सहमत हो गये। उन्होंने मेरे साथ वचन किया कि वह अपने पहले हम-ख़याल साथियों में भट्टों के सवईयों के गुरमति अनुकूल होने का प्रचार करेंगे; लेकिन कुदरत को यह बात मंजूर नहीं थी। डॉ. रण सिंघ जी महीना बिमार रहकर स्वर्ग सिधार गये। अपने उस बिछुड़े मित्र द्वारा दिये गये उत्साह से मैंने भक्त-वाणी के कुछ शब्दों को ही हाथ डाला, उन पर विचार तथा उनका टीका एक एक कर मैं मासिक-

पत्र *अमृत* में छापता रहा। सन् १९३५-३६ में रामकली राग की वाणी 'सदु' पर भी एक खुला विचार लिखकर मैंने पाठकों को पेश किया तथा बताया कि यह वाणी बिलकुल गुरमति अनुसार है। सन् १९४२ में मैंने बाबा फ़रीद जी के श्लोकों का टीका लिखा लेकिन मेरे एक मित्र ने मुझे समझाया कि यह इक्का दुक्का काम पर्याप्त नहीं हैं; मेरा लिखा *गुरबाणी व्याकरण* न ही सब लोगों ने पढ़ना है, न ही गुरुवाणी को उसके अनुसार समझने की कठिन मेहनत करनी है; जितना हो सके यह काम मुझे ही शुरू करना चाहिये। इसलिये 'बाई वारां' के १९२४ के शुरू किए हुए टीके को समाप्त कर १९४५ में मैंने भक्तों की वाणी का टीका शुरू कर दिया। यह काम बहुत ही कठिन साबित हुआ, आठ-नौ महीनों में मैं थक गया तथा कबीर जी के श्लोक मुझे छोड़ने ही पड़े। सन् १९४६ में मैं भक्तों के संबंध में अन्य विचार लिखता रहा, जिनमें से कुछ मैं पुस्तक *गुरमति प्रकाश* में पाठकों के सामने पेश कर चुका हूँ।

मार्च सन् १९४७ में लाहौर तथा अमृतसर में सांप्रदायिक फ़साद शुरू हो गये। इन्होंने इतना भयंकर रूप ले लिया कि हज़ारों हिन्दु तथा सिक्ख डरे हुये ख़ालसा कालिज के अन्दर आ गये। पढ़ाई का सारा कार्य उलट पलट गया। दिन-रात फ़सादों की दन्त-कथा ही हर जगह होती रहती थी। महीना-डेढ़ महीना तो 'वे आये' 'वे आये' के शोर में बिताया। आख़िर समझ आई कि यह झगड़े जल्दी समाप्त होने वाले नहीं हैं तथा इस बेचैनी में ज़्यादा समय नहीं बिताया जा सकेगा। इसलिये भक्त-वाणी के जिस हिस्से का टीका नहीं किया गया था, उसको शुरू करने की सलाह की। लेकिन, ध्यान अभी भी फ़सादों के शोर में लगा हुआ था, उसको टिकाने लाने के लिये मैंने टीके की सारी पाण्डुलिपि को फिर से ध्यान से पढ़ा। इस तरह स्मरण-शक्ति को ताज़ा कर कबीर जी के श्लोकों का टीका मैंने ९ जून को शुरू किया।

पहले पहल मेरा यह ख़याल बना हुआ था कि यह श्लोक आसान ही हैं, इनका टीका मैं दस-बारह दिनों में समाप्त कर लूँगा। पर जैसे जैसे एक एक कर मैंने इनमें हाथ डाला, कबीर जी की ऊँची उड़ानों पर मैं हैरान होता गया। इतनी इतनी गहरी बातें दृष्टिगोचर होने लगीं कि कई बार तो एक एक श्लोक पर घंटों विचार करना पड़ता था। बड़ा गहरा

समुद्र छोटे से पात्र में समाया प्रतीत होता था। कई सयाने विद्वान् तथा प्रचारकों के मुँह से अब तक मैं सुनता आया था कि कबीर जी प्राणायाम किया करते थे। माँस के बारे में कबीर जी का मत सिक्ख धर्म के साथ नहीं मिलता, क्योंकि वह माँस खाने का निषेध कर गये हैं, कबीर जी मछली का माँस खाने से रोक गये हैं। बांग आदि के बारे में कई मुसलमान प्रचारक कबीर जी को इस्लाम से नावाकिफ़ (अनजान) साबित करते सुने जा रहे थे। लेकिन, उच्चकोटि के कवियों को गहरी दृष्टि से न देखने पर ये भ्रम होने स्वाभाविक बात थी। जब ये सभी श्लोक मुझे एक ख़याल-लड़ी में पिरोये हुये दिख पड़े तो उन लोगों के डाले हुये भ्रम-वहम मेरे मन से ऐसे उड़ गये जैसे तेज़ हवा से धूएं का पहाड़ उड़ जाता है।

इस टीके के साथ कबीर जी के श्लोकों के बारे में अब मैं निम्नलिखित विचार पाठकों के सामने पेश कर रहा हूँ:

(१) सारे श्लोकों का मिला-जुला क्रमानुसार भाव।
(२) यह विचार कि कबीर जी के सभी श्लोकों की एक ही संयुक्त ख़याल-लड़ी है।
(३) क्या कबीर जी वैष्णव-भक्त थे ?
(४) कबीर जी के श्लोक तथा गुरु नानक साहिब।

यह टीका क्योंकि सिर्फ़ श्लोकों का ही है, मैं कबीर जी के शब्दों में से कोई गवाही-प्रमाण पेश नहीं कर रहा। कबीर जी के जीवन के बारे में डाले गये भ्रमों पर की गयी विचार मैं उनके शब्दों के टीके के साथ पेश करूँगा।

मेरे पातशाह सतिगुरु जी ने जो कुछ मुझे दिया है उसके अनुसार नेक-नियत से मैं यह भेट पेश करता हूँ। हो सकता है कि कई सज्जनों के साथ कई स्थानों पर मेरा मत-भेद हो। फिर भी यदि कहीं किसी एक-आध सज्जन को इस मेहनत द्वारा इस वाणी में से कोई आनन्दमयी अनुभव हो सका, तो मैं अपने ऊपर सतिगुरु की अनंत कृपा समझूँगा कि उसने मुझे इस हिल-जुल तथा शोर-गुल के समय अच्छे कार्य में लगाये रखा।

२४, ख़ालसा कालिज, अमृतसर **साहिब सिंघ**
नवम्बर १९, १९४७

कबीर जी के श्लोकों का क्रमानुसार भाव

श्लोक अंक १ से १२ तक :

जबसे संसार बना है, मनुष्य के लिये सुख का एक ही अटल नियम चला आ रहा है कि सुख सिर्फ़ नाम-सिमरन में है, निम्न-जाति वालों के लिये भी कोई रुकावट नहीं है। मनुष्य कितना भी धनाढ्य हो तथा बाह्य-रूप में सुन्दर सजीला हो, नाम के बिना हृदय में संताप ही रहता है तथा जब तक धन आदि सांसारिक सुखों की लालसा है तब तक हरि-नाम का सिमरन नहीं हो सकता, तथा सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

प्रभु का नाम-सिमरन कर जिस मनुष्य का 'अहं' समाप्त हो जाता है उसकी समस्त ज्ञानेन्द्रियों की रुचि परमात्मा की ओर हो जाती है, पहले उसको अपना आप अच्छा प्रतीत होता था, अब उसको दूसरों में गुण दिखाई देने लगते हैं, पर यह सारी बरकत गुरु-दर से नसीब होती है।

'अहं' को मारना एक ऐसा भला कार्य है जिसकी सारा संसार प्रशंसा करता है। विनम्र मनुष्य मानो चंदन का वृक्ष है जो सबको सुगंध देता है। 'अहं' के मारे हुये इंसान अंधेरी रात जैसे काले दिल वाले होते हैं, वे मानो बाँस हैं, जो चंदन के निकट होते हुये भी चंदन की सुगंध से वंचित रहते हैं तथा आपस में ही टकरा-टकराकर जलते हैं।

मुख्य भाव : हरि-नाम का सिमरन मनुष्य के लिये सुख का वास्तविक साधन है, तथा यह हरि-नाम गुरु-दर पर मिलता है। ग़रीब से ग़रीब तथा निम्न से निम्न जाति वाला मनुष्य भी हरि-नाम सिमरकर सुखी हो जाता है।

श्लोक अंक १३ से ३० तक :

दुनियावी पदार्थों को सुख का साधन समझकर जो मनुष्य हरि–नाम को भूल जाता है, वह घाटे में रहता है; दुनियाँ के रंग–तमाशे तथा महल–मंडप जलती हुई भट्ठी जैसे हैं, क्योंकि नाम को भूलकर दुनियाँ में मस्त रहने वाले लोगों के अन्दर तृष्णा की आग जलती रहती है, तथा सारी उम्र माया की ख़ातिर भटकने के कारण फिर वे कई जूनों में भटकते रहते हैं। ऐसे लोगों के मुँह से जब भी निकलते हैं, बुरे वचन ही निकलते हैं; मानव–जन्म के असल मनोरथ से वंचित होकर वे सारी उम्र परेशानी में ही पड़े रहते हैं, क्योंकि माया अनेक रूप धारणकर सदा उनको कुमार्ग पर ले जाती है। इतने दुःखी रहकर भी माया–लिप्त जीव माया का मोह त्यागने के लिये तैयार नहीं होते। यह जानते हुये कि "मरने ही ते पाईऐ पूरनु परमानंदु", माया का मोह छोड़कर हरि–नाम के स्थान पर विद्या, राज्य, ज़मीन आदि को ज़िन्दगी का आधार बना रखा है, उनकी साझेदारी–मित्रता भी विश्वसनीय नहीं होती।

लंबी जटाओं वाले या रुण्ड–मुण्ड संन्यासी को देखकर एक गृहस्थी के मन में यह विचार पैदा हो सकता है कि ये लोग तो 'दुनी' छोड़कर 'दीन' के रास्ते पर चल रहे हैं। लेकिन यह ग़लत है, कोई भेष या बाह्य–त्याग 'दुनी' के मोह से बचा नहीं सकता, तथा जब तक यह मोह कायम है तब तक सहम जीवन को खाता ही रहेगा। 'काजल की कोठरी' जगत् में बेदाग़ रहने के लिये हरि–नाम ही साधन है, जिसका 'साध–संगति' में रहने से सिमरन किया जा सकता है।

अजीब तमाशा बना हुआ है। 'दुनी' का व्यापारी जीव हर समय मौत के भय के नीचे दबा रहता है, फिर भी 'दुनी' का मोह त्यागने को तैयार नहीं; 'बन फल पाके' जैसे यह जन्म भी व्यर्थ गंवा देता है तथा फिर चौरासी के लंबे चक्कर में पड़ जाता है।३०।

श्लोक अंक ३१ से ४० तक :

शरीर का मोह मनुष्य को 'दुनियाँ' की दौड़–भाग की ओर प्रेरित

करता है, यदि इसकी इच्छानुसार माया न इकट्ठी हो तो गिले-शिकवे करता है। प्रभु के गुण भी गाये तथा गिले-शिकवे भी करता रहे—यह "सलामु जबाबु दोवै करे, मुंढहु घुथा जाइ॥" प्रभु के साथ प्रीति की परख में वही मनुष्य पूरा उतरता है जो 'दुनियाँ' के मोह की तरफ़ से मरकर हरि-नाम के प्यार में जीऊ पड़ता है। इंसानी ज़िन्दगी मानो एक बेड़ी है, कई जूनों में से गुज़रने के कारण यह बेड़ी पुरानी हो चुकी है, अनेक जन्मों के किये कुकर्मों के संस्कार इस बेड़ी में मानो छेद हैं। इस दुनियाँ के मोह में फंसा मनुष्य डुबा ही जानो। फिर, यह मोह करना भी किस वस्तु के साथ ? सुन्दर शरीर आख़िर मिट्टी में मिल जाता है, महल-मंडप छोड़ने पड़ते हैं। धन-पदार्थ जाते देर नहीं लगती।

मुख्य भाव : दुनियावी पदार्थों तथा भोगों को सुख का साधन समझकर हरि-नाम बिसार देने से सिर्फ़ परेशानी ही होती है, तथा इनके संग साथ भी नहीं निभता।

श्लोक अंक ४१ से ७० तक :

यह मानव-जन्म ही हरि-नाम के सिमरन का समय है, पर यह नाम-धन एकत्र करने के लिये ज़रूरी है कि मनुष्य पहले शारीरिक मोह त्यागकर विकारों का संग छोड़े। इन भोग-विकारों का अस्तित्व असल में बस इतना ही जानो, जैसे किसी दुकान से सौदा लेकर ऊपर से थोड़ा-सा गुड़ लेकर खा लिया जाता है। दुनियाँ के भोगों की बात छोड़ो, यदि विद्या तथा भक्ति में से किसी एक को चुनना पड़ जाये तो विद्या छोड़कर हरि-नाम ही चुनना चाहिये। यहां संसार में जीव की योगी वाली ही चार दिन की फेरी है, विकारों की आग में पड़कर जिस भाग्यहीन जीव-योगी की शरीर-गोदड़ी जलकर कोयला हो गयी, उसके पल्ले परेशानी ही पड़ती है। यदि जीव सांसारिक भोग, विद्या, धन आदि को अपने जीवन का आसरा बना ले तो माया के 'पांचउ लरिका' इसको आसानी से ग्रस लेते हैं। जैसे थोड़े पानी में रहती हुई मछली को मछुआरा (झीवर) जल्दी पकड़ लेता है। यह भोग स्वादयुक्त प्रतीत होते हैं, फिर भी प्रभु के नाम के सामने 'दुनियाँ'

वाले ये सारे आसरे तुच्छ हैं। स्वामी-रहित तथा मल्लाह-हीन नाव लहरों में फंसकर डूब जाती है, इसी तरह जिस जीव की ज़िन्दगी की नाव का कोई गुरु-मल्लाह नहीं है, वह विकारों की लहरों से टकराकर डूब जाती है। विकारी कुसंगी से बचो, नहीं तो यह कमज़ोर जीव-हिरण विकार-शिकारियों के हाथ में पड़ने से बच नहीं सकेगा।५३।

तीर्थों पर निवास करने से मन विकारों से बच नहीं सकता, ऊँची-जाति में जन्म लेना भी कोई सहायता नहीं करता, सिमरन के साथ ही मन पवित्र हो सकता है। तीर्थ-स्नान तथा ऊँची-जाति तो, बल्कि मन को अहंकार से हाथी जैसा बना देते हैं। जायदाद के स्वामित्व की लालसा, माया की ममता भी प्रभु-चरणों में जुड़ने नहीं देती। जिस पर प्रभु कृपा करे, वह किरत-कार (मेहनत की कमाई) करता हुआ भी ध्यान प्रभु-चरणों में रखता है। दिन के समय मेहनत की कमाई करते हुये ध्यान परमात्मा की याद में रखो, रात को सोते समय भी ध्यान अपने आप उधर ही रहेगा। इस तरह उठते बैठते, सोते जागते हर समय प्रभु-चरणों में जुड़ने की आदत बन जायेगी। पर यदि सारा दिन "बड बड रूँधहि ठाउ", जो ध्यान सारा दिन केवल स्वामित्व के चक्कर मे लगा रहे, वह प्रभु-चरणों में नहीं जुड़ सकता। ज़िन्दगी की सारी दौड़-भाग केवल स्वामित्व की प्राप्ति के लिये नहीं होनी चाहिये, पर दूसरी तरफ़, दुनियाँ छोड़कर धूणियाँ तपाने से, उलटे लटकने से भी परमात्मा नहीं मिलता, हमने मेहनत की कमाई करनी है तथा हक्क की कमाई करते हुये उसके दर से नाम की दाति भी मांगनी है। उसकी याद सिर्फ़ उसकी कृपा है, किसी जप, तप का कोई मान नहीं किया जा सकता, कोई हक्क नहीं जताया जा सकता।६५।

यदि प्रभु के दर पर टिके रहें तो 'लाख अहेरी' 'पांचउ लरिका' आदि में से कोई भी जीव के सही रास्ते में रुकावट नहीं डाल सकता। सिफ़ति-सालाह की उमंग एक ऐसी ताकत है जो सांसारिक मोह की लहरों में से अडोल ही मनुष्य को ऊपर उठा देती है तथा डूबने से बचा लेती है। फिर भी विकारी मनुष्य को परमात्मा की यह सिफ़ति-सालाह अच्छी नहीं लगती, उसका स्वभाव मक्खी जैसा हो जाता है, जो सदैव बदबू वाले स्थान पर ही जाती है। कोई नासमझ हो या समझदार हो, जो भी हरि-

नाम का सिमरन त्याग देता है, वह माया के मोह में डूबकर आत्मिक मौत मर रहा है, उसको विकार अन्दर से खोखला कर देते हैं।७०।

मुख्य भाव : यह मानव-जन्म ही सिमरन का समय है, लेकिन विकारों से बचने पर ही यह कमाई हो सकती है, तथा जहाँ सिमरन नहीं है वहाँ विकार आ दबाते हैं।

श्लोक अंक ७१ से १०१ तक :

जिस मनुष्य को प्रभु-दर से भक्ति की दाति मिलती है, वह सती जैसे ख़ुशी ख़ुशी शारीरिक मोह को जलाता है, विकारों की तरफ़ से मुँह मोड़ता है। गन्ने को मीठा रस मिलता है, उसके बदले में वह बेलन में निचोड़ा जाता है, वैसे गुणों के बदले में आपा-भाव से मरना ही पड़ता है, इस शरीर का अस्तित्व भी कच्चे घड़े जैसे चार दिन का ही है, इसका मोह त्यागकर गुरु के बताये मार्ग पर चलना चाहिये, क्योंकि पालतू कुत्ते जैसे एक मालिक का होकर रहने में आदर तथा सुख है, दर दर पर भटकने से निरादर और दुःख है। गुरु-दर से जिस मनुष्य को यह सूझ मिलती है कि इन कामादि ने मुझे परमात्मा से वियुक्त कर दिया है, परमात्मा से वियोग के अहसास का उसको एक ऐसा डंक लगता है कि विकारों का कोई मंत्र उस पर चल नहीं सकता। गुरु-पारस उसको सोना बना देता है, गुरु चंदन उसके अन्दर सिमरन की सुगंध पैदा कर देता है। गुरु विकारों की मार से बचाकर मौत का सहम दूर कर देता है। यहाँ सदा टिके नहीं रहना, मौत आनी ही है तो फिर मन की मौजों में पड़कर मानव-शरीर गंवा लेना भूल है। यह फिर जल्दी नहीं मिलेगा।८०।

इंसान परमात्मा के गुण इसलिये नहीं गाता कि गुणों का अंत पाया जा सके। गुणों के साथ मन को बार बार जोड़ने से मन में गुण पैदा होने शुरू हो जाते हैं। नीची-जाति आदि वाली हीन-भावना दूर हो जाती है। जैसे परलोक पहुँचे पति को मिलने के लिये सती हँस-हँसकर अपना शरीर चिता में जलाती है, वैसे ही प्रभु-पति को मिलने के लिये जीव-स्त्री सिफ़ति-सालाह (गुण-कीर्तन) की ब्रह्म-अग्नि में शारीरिक मोह को जलाती है।

मन-पक्षी माया के पीछे भागना छोड़कर प्रभु-चरणों में टिका रहता है, कुसंग से बचा रहता है और जीवात्मा मरने से बच जाती है। निंदा एक ऐसा भयानक दोष है कि मनुष्य दूसरों के ऐब निकालता निकालता अपने बुरे-जीवन की तरफ़ से असावधान हो जाता है, प्रभु की सिफ़ति-सालाह (गुण-कीर्तन) इस ख़तरनाक रास्ते से बचाती है। सिफ़ति-सालाह से वियुक्त हुआ मनुष्य कुसंग में फंसता है, तथा धीरे-धीरे उसकी कोमल जान विकारों में जलकर कोयला हो जाती है, वह हर समय खीझता रहता है; यह खीझ, यह जलन, यह कालिख समाप्त होने में नहीं आती। संतप्त हुआ जीव कुसंग में बैठा और कुढ़ता है तथा जलने-खीझने की यह एक लंबी कहानी बनी रहती है। सिफ़ति-सालाह की बरकत से मन विकारों की ओर से मर जाता है, मन के मरने से जाति-अभिमान, शारीरिक-मोह, तृष्णा, कुसंग, निंदा आदि सभी ऐब दूर हो जाते हैं।९१।

परमात्मा का नाम ही विकारों की तरफ़ भटकने से बचाता है और वह नाम साध-संगति में मिलता है; तथा साधु वे हैं जिन्होंने सर्व-व्यापक प्रभु को याद रखा हुआ है। उनकी संगति ही मन के लिये शान्ति का स्थान है। लेकिन जिन्होंने 'चेले चाटड़ों' वाला आडंबर बना लिया है, जो बंदगी छोड़कर अपनी सेवा-पूजा में ही मस्त हो गये हैं वह 'साधु' नहीं हैं। इंसानी उच्च जीवन-रूप वृक्ष की चोटी पर पहुँचाने के लिये 'साध-जन' मानो ड़ालियाँ (शाख़ायें) हैं, जिनका सहारा लेकर मनुष्य ने चोटी पर पहुँचना है, लेकिन बनावटी (केवल वेश धारण करने वाले) तथा चेले-चाटड़े ही बनाने वाले 'साध-जन' कमज़ोर टहनियाँ हैं, इनका आश्रय लेने से मुँह के भार गिरकर आत्मिक-मौत मरने का ख़तरा पैदा हो जाता है। ये जो सिर मुंडाकर अपने आप को 'साधु' समझता फिरता है, यदि इसने अपने मन से विकारों की मैल दूर नहीं की, तो सिर के केश मुंडाने से यह साधु नहीं बन गया, ऐसे मनुष्य साकत होते हैं, इनकी मुहब्बत में मन पवित्र होने की जगह काला हो जाता है। मन को साधने वाले गुरमुखों की संगति में रहने से दिन-प्रतिदिन परमात्मा के साथ प्यार बढ़ता ही जाता है, ऐसे सौभाग्यशाली लोगों की संगति करने से किरत कमाई घटने के कारण यदि ग़रीबी आदि कष्ट भी आ जाये तो आए।१०१।

मुख्य भाव : गुणों के बदले 'आपा-भाव' से मरना ही पड़ता है, विकार छोड़ने ही पड़ते हैं, गुण-गाने की बरकत से जाति-अभिमान, शारीरिक-मोह, तृष्णा, कुसंग, निंदा आदि सारे ऐब दूर हो जाते हैं। लेकिन सिफ़ति-सालाह (गुण-कीर्तन) की यह देन (दाति) साध-संगति में ही मिलती है।

श्लोक अंक १०२ से १३१ तक :

'तनु धनु' जाने पर भी हमारा मन 'रामहि नामि' समाया रहे तो भी यह सौदा बहुत सस्ता है, क्योंकि नाम की बरकत से शारीरिक-मोह फीका पड़ जाता है, वह मन ही नहीं रह जाता जो शारीरिक-मोह का बाजा बजाता है। वेदादि का कर्म-काण्ड विकारों से नहीं बचा सकता। बाहरी धर्म-भेष से लोग चाहे प्रभावित हो जायें लेकिन अन्दर के पाप परमात्मा से छिपे नहीं रह सकते।

परमात्मा का सिमरन छोड़ने का ही नतीजा है कि कहीं कोई सारी उम्र सिर्फ़ परिवार ही पालता पालता आत्मिक मौत मर जाता है, कहीं कोई निस्संतान मूर्ख स्त्री औलाद की ख़ातिर रात को मसाण जगाने चल पड़ती है और कहीं कोई मूर्ख स्त्री शीतला आदि का व्रत रखती फिरती है। वैसे सिमरन करना भी कोई आसान कार्य नहीं है, दुनियाँ के चसके छोड़ने पड़ते हैं; तथा जो कोई सिमरन करता है उसकी अपनी आत्मा, उसका गाँव, उसका कुल सब पवित्र हो जाते हैं। सिमरन-हीन राज्य-भाग्य के सुख से माँगकर खाया भोजन अच्छा है यदि ज़िन्दगी के दिन प्रभु की याद में बीतें, क्योंकि नाम के बिना अन्य कोई किसी का अन्त तक निभने वाला साथी नहीं होता। लेकिन प्रभु आप ही कृपा करे तभी यह जीव गुण गा सकता है। जिस पर सिमरन की कृपा नहीं होती, उसका सारा परिवार (आँख, कान, नाक, आदि सारी ही इन्द्रियों का समूह) विकारों में आवश्य डूब जाता है।११५।

सिमरन की दाति गुरमुखों की संगति में ही मिलती है। सतसंग में जाते समय कोई सहारे नहीं ढूँढ़ने चाहिये, किसी के साथ का इंतज़ार नहीं करना चाहिये, क्योंकि आमतौर पर प्रत्येक जीव ममता में बंधा हुआ है,

सहारे ढूँढ़ने से हो सकता है ममता में बंधे साथी के द्वारा प्रेरित हो जायें। यह ममता की ज़ंजीर इतनी पक्की होती है कि मौत की सेज पर पड़ा मनुष्य भी प्रभु को याद करने की जगह संकेतों से ही संबंधियों को रखी हुई माया की बातें समझाने का प्रयत्न करता है।११८।

प्रभु-दर से सिमरन की दाति मांगो। परमात्मा के सुन्दर चरणों की याद का आनन्द ऐसा होता है कि किसी स्वर्ग आदि का सुख इसकी बराबरी नहीं कर सकता, तथा नरक आदि का कोई डर पास नहीं फटकता।१२२।

लेकिन भाग्यहीन मनुष्य की दशा देखें। कूँज जैसे इसका ध्यान हमेशा माया के स्वामित्व की चाह में टिका रहता है, तथा पपीहे के समान सदा यह बिलखता ही रहता है। माया की ममता के इस अंधकार से जन्म-जन्मांतरों तक यह मुक्त नहीं होता, प्रभु-चरणों से बिछुड़कर माया की ख़ातिर यह दर दर गिड़गिड़ाता रहता है। फिर भी मोह की इस मीठी नींद में से जागने का इसका मन नहीं करता, कभी नहीं सोचता कि एक दिन यह सब कुछ सदा के लिये छोड़ जाना पड़ेगा। असल बात तो यह है कि यह जागृति गुरमुखों की संगति में रहने से तथा साकत-जनों से दूर रहकर ही आ सकती है।१३१।

मुख्य भाव : प्रभु का सिमरन छोड़ने से कई तरह के सहम तथा भ्रम-वहम आ दबाते हैं। प्रभु के चरणों में जुड़े रहना सर्वश्रेष्ठ स्वर्ग तथा बिछुड़ना नरक है। लेकिन यह सिमरन तभी हो सकता है यदि अच्छे नेक लोगों की संगति में टिके रहें तथा साकत-जनों की प्रशंसा से बचे रहें।१३१।

श्लोक अंक १३२ से १८३ :

साधारणतः सिमरन की आदत डालने का समय बुढ़ापे से पहले ही होता है। वैसे यह प्रभु की कृपा है; बुढ़ापा हो चाहे जवानी, सिमरन वही करता है जिस पर कृपा हो। तथा जो भाग्यशाली पूर्ण श्रद्धा से याद में जुड़े रहते हैं, उनका जीवन प्रभु-दर पर कबूल होता है। पर मूर्ति-पूजा तथा तीर्थ-स्नान के "भरवासे जो रहे, बूडे काली धार"। पंडितों की इस कैद में से निकलकर परमात्मा का सिमरन करो तथा आजकल करते हुये समय व्यर्थ न जाने दो।१३८।

परमात्मा की याद से रहित मनुष्य चाहे जितना भी चुस्त-चालाक दिखता हो, असल में वह बुद्धिहीन होता है। सयाना उसे ही जानो जो प्रभु की भक्ति से नहीं चूकता, वह मनुष्य भौंरे की तरह प्रभु प्यार की सुगंध में लीन रहता है। जो मनुष्य केवल कुटुंब के मोह-रूप की जड़ में फंसा पड़ा है, परमात्मा का भजन उसके हृदय से दूर ही रह जाता है, ऐसे साकत-जनों से तो सूअर ही अच्छा है जो गाँवों के आस-पास की गंदगी खाकर गाँवों को स्वच्छ रखता है। केवल धन कमाने वाले मनुष्य उम्र व्यर्थ गंवा देते हैं, पर केवल 'भेष' को ही भक्ति-मार्ग समझने वाले भी कुछ नहीं कमा रहे। अभिमान त्यागना, हृदय को कोमल बनाना है, सबके साथ ऐसा अच्छा व्यवहार करना है कि "जैसा हरि ही होए" वैसा बनना है—ऐसी अवस्था में पहुँचे हुए मनुष्य को सतसंग ही सबसे अधिक प्यारा स्थान लगता है। उसका मन वहाँ जा टिकता है जहाँ सहज-अवस्था है तथा जहाँ मायिक पदार्थों के विचार पैदा नहीं होते। ऐसे मनुष्य के उच्च जीवन की कीमत नहीं पड़ सकती।१५३।

पर "ऊच भवन कनकामनी" आदि पदार्थों में मस्त रहने के कारण यह हीरा जन्म "कउडी बदलै" जाता है, क्योंकि दुनियाँ की मौज के 'लोभ' के कारण मनुष्य आत्मिक मौत सहेड़ लेता है। (इसका यह भाव नहीं कि दुनियाँ 'त्यागकर' कहीं जंगल में जा बैठना है। यह मार्ग तो मान-अहंकार पैदा करता है। हीरे जन्म को "कउडी बदलै" जाने से बचाने का बस एक ही रास्ता है, वह है सतिगुरु की शरण। लेकिन गुरु-दर पर भी रस्मी तौर पर नहीं आना चाहिए। अपनी चतुराई छोड़कर गुरु के बताये मार्ग पर चलना है।) इसलिये "बिखै कउ मांग" संवारने वाली "छत्रपती की नारि" से "हरि जन की पनिहार" भाग्यशाली है, क्योंकि साध-संगति में रहकर "ओह सिमरै हरि नामु"। (गुरु-शब्द की बरकत से हरि-नाम का महत्त्व जानने वाले भाग्यशाली जन सतसंग में मिलकर बड़े प्यार तथा उत्साह से परमात्मा की सिफ़ति-सालाह (गुण-कीर्तन) करते हैं। यहाँ यह बात याद रखनी है कि एक तो परमात्मा के बिना किसी अन्य देवी-देवता की पूजा न करें, दूसरा परमात्मा का मिलाप केवल सतसंग में ही है, कर्म-काण्डी पंडितों के आगे नाक न रगड़ते फिरो। कर्म-काण्ड

की कैद में कुलरीति भी बहुत जकड़कर रखती है, इसको भी निडर होकर त्यागना पड़ेगा।) सिर्फ़ जायदाद के स्वामित्व प्राप्त करने से भिखारी बनकर घर घर से मांगी हुई रोटी खाकर गुज़ारा कर लेना अच्छा है, क्योंकि जायदाद आदि बनाने से मनुष्य के अन्दर जलन-कुढ़न पैदा होती है। प्रभु संसार के कण कण में बसता हो, लेकिन लोग स्वामित्व प्राप्त करने के चक्कर में पड़कर तृष्णा-अग्नि में जलते हुये उस घट-घट-वासी को न पहचान सकें—यह कितनी हसरत-भरी घटना है ! स्वामित्व की ललक से पैदा हुये आन्तरिक संताप के कारण मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों में प्रभु की तरफ़ की लौ घटती जाती है, माया अनेक रूपों में मनुष्य को मोह रही है, मनुष्य इस माया की प्रत्येक मौज को अपनी मलकीयत बनाने की कोशिश करता है। इस तरह जायदाद आदि के स्वामित्व से पैदा हुई अन्दर की आग मानो प्रत्येक तरफ़ लगी हुई है। जो जायदाद आदि बनाने की इस कोशिश की तरफ़ से बेपरवाह रहते हैं, उनको दुनियाँ मूर्ख कहती है। जिस किसी को विद्या हासिल करने का अवसर मिला है, उसको चाहिये कि उसके द्वारा दुनियाँ के स्वामित्व में पड़कर कुढ़ने की जगह विचारवान् बने तथा परमात्मा का सिमरन करे।१७३।

जैसे साँपों से घिरा हुआ भी चंदन का वृक्ष अपनी आन्तरिक शीतलता नहीं छोड़ता, वैसे ही सिमरन की बरकत से संत गुरमुख करोड़ों बुरे मनुष्यों के साथ व्यवहार करते हुये भी शान्त स्वभाव को नहीं छोड़ता। हजूरी (प्रभु की बंदगी) में रहने वाले को पता होता है कि माया की जलन से बचने के लिये माया को रचने वाले प्रभु के चरणों में जुड़े रहना ही सही मार्ग है। माया के प्रभाव-आधीन हमेशा यह ख़तरा रहता है कि जीव गड़े की तरह कठोर बन जाये, इसको अन्तरात्मा में (सूर्य की) गर्मी (प्यार) की ज़रूरत है, यह गर्मी (प्यार) तथा यह शीतलता गुरु-परमात्मा के चरणों में जुड़ने से ही मिलती है। अजीब तमाशा बना हुआ है। जीवन के इस भेद को न समझने के कारण लोग ईर्ष्या, संशय, कठोरता, आदि में बिलखते भी रहते हैं तथा विकारों का पीछा फिर भी नहीं छोड़ते। प्रभु-चरणों में जुड़े रहने वाला मनुष्य इस माया का सदा मुकाबला करता है, वैसे ही यह काम बहुत कठिन है। जो भाग्यशाली मनुष्य गुरु के शब्द-बरछे

(नेज़े) की चोट सहारता रहता है, वियोगिनी नारी की तरह उसके अन्दर प्रभु-पति के मिलने की चाह पैदा हो जाती है तथा माया वाली ईर्ष्या, संशय, आदि उसको दु:खी नहीं कर सकते।१८३।

मुख्य भाव : समय पर जब कि शरीर में ताकत है, परमात्मा का भजन करो। जगत् में अनंत विकार तथा झमेले हैं जो इंसानी ज़िन्दगी को दु:खी किये रखते हैं, इससे बचे रहने के लिये प्रभु-चरणों में जुड़े रहना ही सही तरीका है।

श्लोक अंक १८४ से २२७ तक :

मज़हब ने, मज़हब के रीति-रिवाज ने, बांग, नमाज़, हज आदि ने दिल की सफ़ाई सिखानी है, लेकिन यदि रिश्वत आदि से दिल निर्दयी हो चुका है तथा यही धार्मिक कार्य दिल को और अधिक कठोर बनाये जा रहे हों, तो इनके करने का कोई लाभ नहीं। जिस मनुष्य के अपने मन में शान्ति नहीं आई, उसके लिये परमात्मा कहीं भी नहीं है। किसी जानवर की कुर्बानी देने से पाप क्षमा नहीं किये जाते, यह माँस तो कुर्बानी देने वाले मिल-जुलकर स्वयं ही खा लेते हैं।१८८।

ब्राह्मण से जनेऊ डलवाकर, उसको गुरु धारणकर, ठाकुर-पूजा तथा दिन-त्यौहार के समय ब्राह्मण की सेवा को हिन्दु अपना मुख्य धर्म समझ लेता है; लेकिन इस बात की ओर कभी ध्यान नहीं देता कि जीवन में क्या अन्तर आया है। पर-निंदा करनी तथा सुननी, विकारों की ओर जाना, अहंकार आदि मंद-कर्मों को छोड़ने का ख़याल भी नहीं आता, फिर भी समझता है कि मैं गुरु-पुरोहित वाला हूँ। लेकिन यदि प्रभु की कृपा से मनुष्य को गुरु मिल जाये, गुरु इसकी शरीर-धरती को ऐसा संवार देता है कि यह अपना जीवन भी सफल कर लेता है तथा दूसरों की भी सेवा करता है, कोई विकार, कोई कुसंग इसको इस सुन्दर रास्ते से हटा नहीं सकता।१९६।

ख़ुदा के नाम पर गाय आदि की बली देनी, सब कुछ स्वयं ही मिल-जुलकर खा पी लेना, तथा फिर यह समझ लेना कि इस कुर्बानी के बदले

में हमारे गुनाह माफ़ कर दिये गये हैं—यह बहुत बड़ा भ्रम है। ख़ुदा को ख़ुश करने का यह तरीका नहीं है, ख़ुदा ख़ुश होता है मन की पवित्रता से। यदि मन में कठोरता और विकार हैं तो अनेक बार हज करने पर भी ख़ुदा ख़ुश होकर हाजी को दर्शन नहीं देता।२०१।

इंसान के हृदय का द्वैत-भाव, मेर-तेर की भावना इंसानी ज़िन्दगी के सफ़र में एक बड़ी कठिन घाटी है। इस 'दुइ' को मिटाने के लिये न हज, न कुर्बानियाँ, न ठाकुर पूजा, न ब्राह्मण की सेवा, न त्याग, न योग-साधना, यह कोई सहायता नहीं करते। सिर्फ़ एक ही तरीका है, वह यह कि अपना आप प्रभु को समर्पण कर उसको याद किया जाये। जो मनुष्य 'दुइ' में फंसे रहकर सिमरन नहीं करते, किसी भी पदार्थ के मिलने से उनके मन की दौड़-भाग समाप्त नहीं होती, आशायें अधिक बढ़ती जाती हैं, तथा सिमरन के लिये आजकल करते हुये मौत सिर पर आ पहुँचती है। (गुरु के सिवाय यह जीव टाल-मटोल करने पर मजबूर है, क्योंकि इसका स्वभाव कुत्ते जैसा है। इसका स्वभाव यह है कि हर समय मुर्दे के पीछे दौड़ता फिरे, यदि सौभाग्य से इसका मिलाप गुरमुख से हो जाये तो भलाई की ओर चल पड़ता है। बहुत सुचेत रहने की ज़रूरत है क्योंकि कुसंग की बैठक भले इंसान को भी विकारों की ओर उन्मुख कर देती है—महला ५) दुनियाँ की 'किरत-कार' नहीं छोड़नी, मेहनत की कमाई करते हुये भी हमने अपना चित्त निरंजन से जोड़कर रखना है, क्योंकि वास्तविक साथी परमात्मा का ही नाम है। किसी विशेष नियत समय में पूजा-पाठ कर सारा दिन धोखे-ठगी की किरत (व्यापार, कमाई) करनी ऐसे ही है जैसे चक्की पीस-पीसकर इकट्ठा किया हुआ आटा कीचड़ में गिर जाये, या रात के समय जलता हुआ दीपक हाथ में पकड़ा हुआ हो, दीपक का प्रकाश होते हुये भी मनुष्य किसी कुएं में जा गिरे। सिमरन भजन के साथ हक्क की कमाई अत्यन्त ज़रूरी है।२१६।

सगे-संबंधियों का मोह और ठगी की 'किरत-कार' (कमाई) जीव को प्राणदाता प्रभु से वियुक्त करते हैं तथा प्रभु से वियुक्त हुआ इंसान सुखी हो ही नहीं सकता। सिर्फ़ घर-बार तथा महल आदि का शौक भी आत्मिक मौत का कारण ही होता है क्योंकि लोभ-युक्त जीव हर समय

माया के बारे में ही सोचता रहता है। प्राण तथा ज्ञानेन्द्रियों को बाहरी बुरे प्रभावों से बचाकर रखने का एक ही तरीका है कि असावधानी छोड़कर हर समय परमात्मा का सिमरन करते रहें। सिमरन से हीन यह शरीर अनेक विकार-रूप उगे हुये वृक्षों का एक जंगल बन जाता है, जिसमें मन-हाथी मदमस्त हुआ फिरता है। सतसंग में आकर इस मन को गुरु के हवाले करना पड़ेगा, तभी ही सिमरन की दाति मिलती है, नहीं तो दुनियाँ के झंझटों में पड़कर मनुष्य ऐसी आत्मिक मौत मरता है कि न तो इन धंधों से इसको कभी फ़ुर्सत मिलती है तथा न ही यह परमात्मा का नाम कभी मुँह से उच्चारण करता है, आख़िर आयु बीत जाने पर यम आकर मौत का डंका बजा देते हैं।२२७।

मुख्य भाव : इंसान के हृदय की 'मेर-तेर' की भावना एक ऐसी कठिन घाटी है कि इसको पार करने के लिये न हज, न कुर्बानियाँ, न ठाकुर-पूजा, न ब्राह्मण की सेवा, न त्याग तथा न ही योग-साधना, कुछ भी सहायता नहीं करते। सतसंग में आकर मन को गुरु को समर्पित कर परमात्मा के नाम का सिमरन करना ही एक-मात्र साधन है।

श्लोक अंक २२८ से २४३ तक :

विकारों तथा वाद-विवाद के संताप से तप रहे इस संसार में परमात्मा का नाम ही शीतलता प्रदान करने वाला है। यह नाम गुरमुखों की संगति से मिलता है। इसलिये, थोड़ा-बहुत जितना भी समय मिले, सतसंग ज़रूर करना चाहिये। लेकिन कई लोग ऐसे भी होते हैं जो सतसंग में जाकर राम राम भी कर आते हैं तथा वहाँ से आकर विकारों में भी लिप्त हो जाते हैं। ऐसे लोगों के सारे धार्मिक उद्यम निष्फल जाते हैं। सतसंग में से तो यह लाभ अर्जित करना है कि दुनियाँ के रसों में लिप्त होने के स्थान पर जीव मेहनत की कमाई करता हुआ अपने ध्यान को सदैव प्रभु के चरणों में लगाये रखे तथा किसी प्राणी-मात्र से नफ़रत न रहे।

यह गुण कर्म-काण्डी ब्राह्मण से नहीं मिल सकता, वह तो स्वयं ही कर्म-काण्ड की उलझनों में पड़कर आत्मिक मौत मर चुका होता है,

क्योंकि कर्म-काण्ड में से सिर्फ़ अहंकार ही निकलता है, अहंकार तथा हरि-नाम का कभी मेल नहीं हो सकता। इसलिये यदि प्रभु-प्रेम का खेल खेलने की इच्छा है, तो जनेऊ आदि देकर गुरु बन बैठे ब्राह्मण को छोड़कर नाम के रसिए गुरु की शरण में आओ; नाम के रसिक की संगति के बिना परमात्मा के नाम की प्राप्ति नहीं हो सकती। नाम से रहित के लिये सदा दुःख ही दुःख है। मानव-जन्म का मनोरथ ही यह है कि जीव प्रभु के नाम का सिमरन करे।

मुख्य भाव : विकारों तथा वाद-विवाद के ताप में जल रहे संसार को शीतलता प्रदान करने वाला केवल हरि-नाम ही है तथा इसकी प्राप्ति नाम के रसिक गुरमुखों से ही हो सकती है।



सभी श्लोकों का सम्पूर्ण भाव

१ से १२ तक :

हरि-नाम का सिमरन मनुष्य के लिये सुख का असल साधन है तथा यह हरि-नाम गुरु-दर पर पड़ने से मिलता है। ग़रीब से ग़रीब तथा निम्न से निम्न जाति का मनुष्य भी हरि-नाम सिमरकर सुखी हो जाता है।

१३ से ४० तक :

दुनियावी पदार्थों तथा भोगों को सुख का साधन समझकर हरि-नाम बिसार देने से सिर्फ़ ख़ुआरी ही होती है तथा इनके संग साथ भी नहीं निभता।

४१ से ७० तक :

सिर्फ़ यह मानव-जन्म ही हरि-नाम के सिमरन का समय है, लेकिन विकारों से बचने पर ही यह कमाई हो सकती है तथा जहाँ सिमरन नहीं है वहाँ विकार आ दबाते हैं।

७१ से १०१ तक :

हरि-नाम सिमरन की बरकत से जाति-अभिमान, शारीरिक-मोह, तृष्णा, कुसंग, निंदा आदि सभी ऐब दूर हो जाते हैं, लेकिन सिफ़ति-सालाह (गुण-कीर्तन) की यह दाति साध-संगति में से ही मिलती है।

१०२ से १३१ तक :

प्रभु का सिमरन छोड़ देने से कई तरह के सहम तथा वहम-भ्रम

आ दबाते हैं। प्रभु के चरणों में जुड़े रहना सबसे अच्छा स्वर्ग तथा वियोग नरक है। लेकिन यह सिमरन तभी हो सकता है यदि भले लोगों की संगति में टिके रहें, तथा साकत-जनों की संगति से बचे रहें।

१३२ से १८३ तक :

सयम पर जब कि शरीर में ताकत है, परमात्मा का सिमरन करें। जगत् में अनंत विकार तथा झमेले हैं, जो इंसानी ज़िन्दगी को दुःखी बनाये रखते हैं। इनसे बचे रहने के लिये प्रभु-चरणों में जुड़े रहना ही सही तरीका है।

१८४ से २२७ तक :

प्रभु-चरणों से बिछुड़ना इंसानी जीवन में एक बड़ी दुःखदायी अवस्था है, इसको मिटाने के लिये न हज, न कुर्बानियाँ, न ठाकुर-पूजा, न ब्राह्मण की सेवा, न घर का त्याग तथा न योग साधना, कोई भी सहायता नहीं करता। सतसंग में आकर मन को गुरु के हवाले कर परमात्मा का नाम सिमरन करना ही एक-मात्र सही तरीका है।

२२८ से २४३ तक :

विकारों तथा वाद-विवाद के संताप में जल रहे संसार को शीतलता देने वाला केवल हरि-नाम ही है, तथा इसकी प्राप्ति नाम के रसिक गुरमुखों से ही हो सकती है।

सभी श्लोकों का सामूहिक मुख्य भाव :

प्रभु के चरणों से वियोग एक महा-भयानक रोग है, जो (शारीरिक-मोह, जाति-अभिमान, कुसंग, निंदा, तृष्णा, वाद-विवाद आदि) कई रूपों में मनुष्य को दुःखी कर रहा है। सुखी होने का एक ही तरीका है कि सतसंग में गुरु की शरण में आकर हरि-नाम का सिमरन करें। मानव-जन्म का मनोरथ ही यह है कि मनुष्य प्रभु के नाम का सिमरन करे।



सभी श्लोक एक ही माला के मोती हैं

हमारे एक विद्वान् सज्जन कबीर जी के श्लोकों के बारे में लिखते हैं कि यह श्लोक भिन्न भिन्न होने के कारण ख़यालों की लड़ी ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं। इसी तरह फ़रीद जी के श्लोकों के संबंध में भी लिखते हैं कि फ़रीद जी के श्लोक भी कबीर जी के श्लोकों की तरह भिन्न भिन्न होने के कारण ख़यालों की कड़ी ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं। बाकी टीकाकारों ने यह बात चाहे स्पष्ट शब्दों में नहीं लिखी, लेकिन उनके टीकों से साफ़ दिखाई देता है कि वह भी इसी ख़याल के हैं। किसी भी टीकाकार ने, कहीं भी श्लोकों का परस्पर संबंध खोजने की कोशिश नहीं की।

यह विचार क्यों ज़रूरी है ?

इन श्लोकों में ख़यालों की साझी लड़ी है या नहीं, यह श्लोक स्वतन्त्र हैं या मिले हुये—इस विषय पर विचार करना चोंच-ज्ञान (सिर्फ़ मौखिक ज्ञान) नहीं है। पाठक सज्जन इस भ्रम में न पड़ें कि मैं फ़ालतू बातों में उनका कीमती समय नष्ट कर रहा हूँ। सन् १९४४ में मैं फ़रीद जी के श्लोकों का टीका छपवाने के लिये शहर गया। वहाँ एक सिक्ख सज्जन, जो पंजाबी पुस्तकें लिखने के कारण पंजाबी से प्रेम करने वालों में काफ़ी प्रसिद्ध हो गया था, मुझे मिल गया। पहले दिन ही हमारी जान-पहचान हुई। मेरे हाथ में फ़रीद जी के श्लोकों के टीके की पाण्डुलिपि देखकर उस लेखक सज्जन ने स्वयं ही बाबा जी की प्रशंसा में बोलना शुरू कर दिया कि फ़रीद जी के श्लोक पढ़ने से इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि वे

दुनियाँ से ऊब चुके थे, उनकी वाणी निराशोन्मुख कर देती है तथा अपने इस विद्वत्तापूर्ण कथन की प्रमाणिकता के लिये उस सज्जन ने तुरंत ही फ़रीद जी का यह श्लोक भी सुना दिया :

फरीदा जि दिह नाला कपिआ, जे गलु कपहि चुख ॥
पवनि न इती मामले, सहां न इती दुख ॥ ७६॥

परमात्मा के रंग ! जिस श्री गुरु ग्रन्थ साहिब जी की वाणी को हम अपनी ज़िन्दगी का सहारा-आश्रय समझते हुये उसके आगे अदब-सत्कार के साथ तथा विनम्रता के साथ सिर झुकाते हैं, उसी में कहीं ऐसे अंग भी समझे बैठे हैं जो हमें दुनियाँ से ऊबे हुये प्रतीत होते हैं, जो हमें निराशोन्मुखी करते दिखाई देते हैं। इसका नाम श्रद्धा नहीं है, यह तो :

सलामु जबाबु दोवै करे, मुंढहु घुथा जाइ ॥

लेकिन यह ऊब किनको दिखाई दे रहा है ? उनको जो इन श्लोकों को स्वतन्त्र समझते हैं (फ़रीद जी के इस श्लोक को तथा फ़रीद जी के बारे में अन्य कई भ्रमों को समझने के लिये पढ़ें मेरी पुस्तक *फ़रीद बाणी सटीक*)।

कबीर जी के बारे में भी ऐसे ही भ्रम कई विद्वान् प्रचारकों के मुँह से सुनने में आते हैं कि कबीर जी तो वैष्णव भक्त थे। वे माँस के विरुद्ध प्रचार करते हैं तथा हम सिक्ख माँस खाने के हक्क (पक्ष) में हैं। (इस विषय पर अगले लेख में विचार किया जायेगा।) ऐसे श्रद्धा-हीन बोल हम क्यों बोल रहे हैं ? सिर्फ़ इसलिये कि हम इन श्लोकों को स्वतन्त्र जानकर असल लड़ी में से अलग निकालकर पढ़ते हैं। यदि हमें डावांडोल होने से बचना है तो यह याद रखें कि हम सम्पूर्ण श्री गुरु ग्रन्थ साहिब को सिर झुकाते हैं, सिर झुकाने के समय कभी भी किसी सिक्ख के मन में यह भेद नहीं आ सकता कि हम केवल गुरु-महलों की वाणी का सत्कार कर रहे हैं। गुरु नानक देव जी से लेकर गुरु गोबिन्द सिंघ जी तक गुरु-गद्दी सिर्फ़ एक एक व्यक्ति को ही मिलती रही है, कभी भी किसी गुरु-व्यक्ति का अलग अलग विचारों वाला सारा परिवार 'गुरु' नहीं कहलवा सका। तथा, प्रत्येक गुरु-व्यक्ति सदा केवल उन ख़यालों वाला होता था जो ख़याल सतिगुरु नानक देव जी के थे :

जोति ओहा जुगति साइ, सहि काइआ फेरि पलटीऐ ।।

गुरु गोबिन्द सिंघ जी ने भी एक ही गुरु-व्यक्ति को गुरु-गद्दी सौंपी थी, वह हैं श्री गुरु ग्रन्थ साहिब। यहाँ भी "जोति ओहा जुगति साइ" ही हो सकती है। किसी एक स्थान पर भी 'जोति' तथा 'जुगति' में रञ्च-मात्र भी अन्तर नहीं हो सकता।

श्री गुरु ग्रन्थ साहिब जी की सारी वाणी के बारे में यह निशाना आँखों के आगे रखकर पहले यहाँ हमने यह विचार करना है कि कबीर जी के सभी श्लोकों का एक ही मिला-जुला विषय है, सभी एक ही विचार-लड़ी में पिरोये हुये हैं। पाठकों की आसानी के लिये मैंने सभी श्लोकों का मिला-जुला भाव, सामूहिक भाव, तथा मुख्य भाव अलग अलग भी पूरे विस्तार के साथ दे दिये हैं। लेकिन जिन पाठकों ने अपनी अपनी विचार-कसौटी का प्रयोगकर इस उपर्युक्त दिये गये ख़याल की ओर अधिक गहराई में जाना है, उनकी सहायता के लिये कुछ बातें पेश की जाती हैं:

१. प्रारंभिक तथा अंतिम ख़याल एक ही है :

पहले श्लोक में कबीर जी लिखते हैं:

कबीर मेरी सिमरनी, रसना ऊपरि रामु ।।
आदि जुगादी सगल भगत, ता को सुखु बिस्रामु ।।१।।

अर्थात, जब से सृष्टि बनी है, सभी भक्त हरि-नाम का सिमरन करते आये हैं, हरि-नाम ही सुख तथा शान्ति का साधन है।

अंत में जाकर श्लोक अंक २४२ में लिखते हैं:

हरि सो हीरा छाडि कै, करहि आन की आस ।।
ते नर दोजक जाहिगे, सति भाखै रविदास ।।२४२।।

अर्थात, जो मनुष्य हरि-नाम को बिसारकर किसी अन्य स्थान से सुख-शान्ति की आशा रखते हैं, वे धोखा खा रहे हैं (ग़लती कर रहे हैं)।

सबसे अंतिम श्लोक अंक २४३ में कबीर जी ने यह मोहर लगा दी है तथा फ़ैसला दे दिया है कि बस ! हरि-नाम ही गृहस्थी का मुख्य

धर्म है, हरि-नाम को बिसारकर सांसारिक भोगों तथा विकारों में मनुष्य सुख खोजता है तो यह इसकी मूर्खता है। मनुष्य के लिये गृहस्थी-जीवन ज़िन्दगी का सही रास्ता है लेकिन वह भी तभी, यदि इसमें हरि के नाम का सिमरन किया जाये, नहीं तो जीवन को गंदा कर लेने से घर-बार छोड़ दे। लिखते हैं :

कबीर जउ ग्रिहु करहि त धरमु करु, नाही त करु बैरागु ॥
बैरागी बंधनु करै, ता को बडो अभागु ॥२४३॥

जिस ख़याल से इन श्लोकों को कबीर जी ने शुरू किया है, वहीं आकर समाप्त किया है।

२. केन्द्रीय विचार 'सिमरन' के भिन्न भिन्न पहलू :

सभी श्लोकों में एक ही विषय 'हरि-नाम का सिमरन' पर, उसके भिन्न भिन्न पहलूओं पर विचार किया गया है। इस दृष्टिकोण से हमने इन सभी श्लोकों को आठ भागों में बांटा है तथा प्रत्येक भाग का भिन्न भिन्न मिला-जुला भाव तथा मुख्य भाव दिया है। पाठक सज्जन उनको पढ़कर स्वयं ही विचारकर लेंगे कि श्लोक भिन्न भिन्न नहीं हैं।

(क) श्लोक अंक १ से ९ तक ध्यान से पढ़कर देखें :

"रामु...सुखु बिस्रामु" से शुरू होकर यही ख़याल कई रूपों में चलकर "जिह मुऐ सुखु होए" पर आ पहुँचता है। स्पष्ट रूप में एक ही लड़ी है।

(ख) सिफ़ति-सालाह (गुण-कीर्तन) की बरकत, 'सती' का संदेश :

श्लोक अंक ८१ से ९१ तक ध्यान से पढ़ें। अंक ८१ में परमात्मा के गुण गाने का ज़िकर है, इससे अगले ९ श्लोकों में कबीर जी लिखते हैं कि गुण-कीर्तन की बरकत से निम्न-जाति वाली हीन-भावना, शारीरिक-मोह, मन की भटकना, कुसंग, निन्दा आदि ऐब दूर हो जाते हैं। अंतिम श्लोक अंक ९१ में फिर सम्पूर्ण-रूप से पहले १० श्लोकों का संक्षेप-

भाव बताते हैं कि हरि-सिमरन की बरकत से मन वश में आ जाता है, इस एक के मरने से पाँच अन्य विकार नष्ट हो जाते हैं।

इस संग्रह में से निम्नलिखित ३ श्लोक विशेष रूप से सुचारू ढंग से हमारे इस ख़याल का समर्थन करते हैं कि श्लोक भिन्न भिन्न नहीं हैं :

कबीर ऐसा को नही, मंदरु देइ जराइ ।।
पांचउ लरिके मारि कै, रहै राम लिउ लाइ ।।८३।।

कबीर ऐसा को नही, इहु तनु देवै फूकि ।।
अंधा लोगु न जानई, रहिओ कबीरा कूकि ।।८४।।

कबीर सती पुकारै चिह चड़ी, सुनु हो बीर मसान ।।
लोगु सबाइआ चलि गइओ, हम तुम कामु निदान ।।८५।।

इन श्लोकों को भिन्न भिन्न बताने वाले हमारे विद्वानों ने श्लोक अंक ८५ का अर्थ इस प्रकार लिख दिया है—"कबीर ! चिता पर चढ़ी हुई सती पुकार कर कहती है, 'हे श्मशान में आये हुये भाइयो ! सुनो, सारा जगत् चला गया है, हमारा तुम्हारा सबका अन्त यही काम है।' "

लेकिन यहाँ यह एतराज़ पैदा होता है कि मौत का यह संदेश सिर्फ़ 'सती' के मुँह से क्यों सुनाया गया है, सूझ वाले इंसान को तो प्रत्येक जलती चिता से यही चेतावनी मिलती है कि तेरी भी बारी आनी है। काव्य-मंडल में इतना ऊँचा उड़ने वाले कबीर जी ने शब्द 'सती' का प्रयोग किसी विशेष सुन्दर ख़याल को प्रकट करने के लिये किया होगा। कबीर जी का वह गंभीर दृष्टिकोण इन तीनों श्लोकों को एक साथ पढ़ने से ही समझा जा सकता है।

पहले दो श्लोकों (अंक ८३ तथा ८४) में कबीर जी कहते हैं कि जगत् में कोई विरला ही है जो अपने आप को जलाता है। अंक ८५ में कहते हैं कि हमने सती को देखा है जो हँस-हँसकर अपने शरीर को जलाती है। सारा संसार श्मशानों से डरता-कांपता है, लेकिन 'सती' उस श्मशान को 'वीर' कहकर बुलाती है, उस श्मशान से प्यार करती है।

यह क्यों ?

'सती' जानती है कि जब यह श्मशान मेरे शरीर को जला देगा तो मैं अपने परलोक पहुँचे पति से जा मिलूँगी।

प्रभु-पति प्रदेस में बैठा है, जीव-स्त्री 'मायके-लोक' में बैठी अपने ही शरीर से प्यार किये जा रही है। जीव-स्त्री का यह शारीरिक-मोह प्रभु-पति को मिलने की राह में रुकावट डाल रहा है। यह मोह बड़ा ही बलवान है, इसको कोई एक ही जलाती है; सिर्फ़ वही जलाती है, जिसको समझ आ गयी है कि इसको जलाने से ही प्रभु-पति मिलेगा।

जिस जीव-स्त्री को यह विश्वास हो जाता है कि शारीरिक-मोह को जलाये बिना प्रभु-पति से मिलाप नहीं हो सकता, तथा मोह को जलाने के लिये सिर्फ़ गुण-कीर्तन ही समर्थ है, सिर्फ़ 'ब्रह्म-अग्नि' ही इसको जला सकती है, वह जीव-स्त्री 'सती' जैसे इस गुण-कीर्तन को प्यार करती है, इस 'ब्रह्म-अग्नि' को 'वीर' कहकर बुलाती है तथा कहती है—"हे प्यारी ब्रह्म-अग्नि! दुनियाँ वाले साथी मुझे प्रभु-पति के साथ नहीं जोड़ सके, उनका साथ भी कच्चा ही साबित हुआ। हे ब्रह्म-अग्नि ! एक तुम ही हो जो मेरे शारीरिक-मोह को जलाकर मुझे प्यारे प्रभु-पति से मिला सकती हो। आख़िर, मैंने तेरा सहारा लिया है।"

अब श्लोक अंक ८१ से लेकर ९५ तक पढ़कर देखें। इनको (एक दूसरे से) अलग अलग (स्वतन्त्र) नहीं कहा जा सकता।

(ग) उपलब्धियाँ या मांगकर खाना :

श्लोक अंक १६८ से १७१ तक ध्यान से पढ़ें :

कबीर भली मधूकरी, नाना बिधि को नाजु ॥
दावा काहू को नही, बडा देसु बड राजु ॥१६८॥

कबीर दावै दाझनु होतु है, निरदावै रहै निसंक ॥
जो जनु निरदावै रहै, सो गनै इंद्र सो रंक ॥१६९॥

कबीर पालि समुहा सरवरु भरा, पी न सकै कोई नीरु ॥
भाग बडे तै पाइओ, तूं भरि भरि पीउ कबीर ॥१७०॥

कबीर परभाते तारे खिसहि, तिउ इहु खिसै सरीरु ॥
ए दुइ अखर ना खिसहि, सो गहि रहिओ कबीरु ॥१७१॥

यदि श्लोक अंक १६८ को स्वतन्त्र समझकर अकेले ही पढ़ें, तो यह प्रतीत होगा कि कबीर जी मांगकर खाने की हिदायत करते हैं। लेकिन जब इससे अगले श्लोक को इसके साथ मिलाकर पढ़ें तो कबीर जी का असल भाव खुल जायेगा। कहते हैं कि जायदाद बनाना, उपलब्धियों की भावना आदि से मांगकर खाना अच्छा है, क्योंकि जैसे जैसे मनुष्य जायदाद इकट्ठी करता है तैसे तैसे उसके अंदर 'दाझन' बढ़ती है। अब इन दोनों श्लोकों के साथ अगला श्लोक अंक १७० मिलाएं। कैसी हसरत-भरी दुःखदाई बात बता रहे हैं। लोग 'दाझन' के कारण, भीतर की प्यांस-जलन के कारण पानी के लिये तड़प रहे हैं। पानी का तालाब भरा पड़ा है, तथा नका-नक भरा हुआ है, लेकिन किसी को दिखाई नहीं देता। यह सारा दोष किसका है ? उपलब्धियों का, जायदाद आदि बनाने का। संसार के ज़रे ज़रे में प्रभु बसता हो, घट घट में व्यापक हो, लेकिन लोग उपलब्धियों के चक्कर में तृष्णा-आग में जलते हुये घट-घट वासी को पहचान न सकें—यह कितनी हसरत-भरी घटना है।

अब श्लोक अंक १७१ के शब्द 'गहि रहिओ' को ध्यान से पढ़ें। संसार जायदाद आदि बना रहा है, उपलब्धियाँ कर रहा है, लेकिन कबीर सांसारिक उपलब्धियों के स्थान पर हरि-नाम को संभालकर बैठा है। यहाँ यह शब्द 'गहि रहिओ' स्पष्ट रूप में श्लोक अंक १६९ के 'दावै' की ओर संकेत करते हैं। केवल यही शब्द नहीं, प्रभात के समय तारों के ज्योतिहीन होने का दृष्टांत भी श्लोक अंक १६९ की तरफ़ ही संकेत करता है। रात की शान्ति में तारे चमकते हैं, लेकिन प्रभात के समय सूर्य के तेज-प्रताप के कारण ज्योतिहीन होते जाते हैं।

यह ज्ञानेन्द्रियां शरीर-आकाश के मानो तारे हैं। प्रभु-चरणों में जुड़कर प्राप्त की गई शान्ति के कारण ये तारे प्रभु-प्यार में चमकते हैं, लेकिन जायदाद आदि की प्राप्ति के चक्कर से पैदा हुये आन्तरिक ताप (प्रभात) के कारण ज्ञानेन्द्रियों (तारों) में से प्रभु की तरफ़ का प्रकाश घटता जाता है। सिर्फ़ एक हरि-नाम ही है जो जायदाद आदि की प्राप्ति की उष्णता के प्रभाव से दूर रहता है, इसलिये दुनियाँ की उपलब्धियों के स्थान पर कबीर उस हरि-नाम को 'गहि रहिओ' कहते हैं।

कौन कह सकता है कि इन श्लोकों में गहरा संबंध नहीं है ? यह ख़याल-लड़ी अभी आगे को चली जा रही है।

(घ) इंसानों की तरफ़ से रूखा तथा परमात्मा की तरफ़ से रूखा :

श्लोक अंक १७४ से १७९ तक मिलाकर पढ़ें :

कबीर संतु न छाडै संतई, जउ कोटिक मिलहि असंत ॥
मलिआगरु भुयंगम बेढिओ, त सीतलता न तजंत ॥१७४॥

कबीर मनु सीतलु भइआ, पाइआ ब्रहम गिआनु ॥
जिनि जुआला जगु जारिआ, सु जन के उदक समानि ॥१७५॥

कबीर सारी सिरजनहार की, जानै नाही कोइ ॥
कै जानै आपन धनी, कै दासु दीवानी होइ ॥१७६॥

कबीर भली भई जो भउ परिआ, दिसा गई सभ भूलि ॥
ओरा गरि पानी भइआ, जाइ मिलिओ ढलि कूलि ॥१७७॥

कबीरा धूरि सकेलि कै, पुरीआ बांधी देह ॥
दिवस चारि को पेखना, अंति खेह की खेह ॥१७८॥

कबीर सूरज चांद कै उदै, भई सभ देह ॥
गुर गोबिंद के बिनु मिले, पलटि भई सभ खेह ॥१७९॥

बड़े बड़े ज़हरीले साँप जिनकी केवल फूँक ही जलाने की ताकत रखती है, चंदन के वृक्ष को घेरकर रखते हैं लेकिन चंदन की अपनी अंदर की शीतलता उसको साँपों के ज़हर से बचा लेती है। यह माया मानो ज्वाला है "जिनि जगु जारिआ", लेकिन प्रभु की हज़ूरी में रहने वाले को पता होता है कि माया की जलन से बचने के लिये माया को बनाने वाले के चरणों में जुड़े रहना ही सही रास्ता है।

वर्षा होने पर वर्षा की बूँदें मिलकर नदी में जा गिरती हैं। लेकिन बहुत अधिक ठंड लग जाने पर वह बूँदें गड़े बन जाती हैं। ये गड़े अलग अलग होकर धरती पर गिरकर यहाँ वहाँ लुढ़कते हैं। जब इनको

फिर सेक लगे तो दुबारा पानी बनकर अपने मूल नदी के पानी के साथ जा मिलते हैं।

'दाझन' के अतिरिक्त माया मनुष्य के अंदर गड़ों वाली कठोरता पैदा करती है। इंसानों की तरफ़ से रूखा तथा परमात्मा की तरफ़ से भी रूखा, माया की भटकन में यहाँ वहाँ ठोकरें खाता फिरता है। जब प्रभु का डर-रूप सेक लगता है तो अन्य सभी छोर भुलाकर प्रभु के चरणों में आ जुड़ता है।

श्लोक अंक १७८ की पंक्ति "अंति खेह की खेह" तथा अंक १७९ की पंक्ति "पलटि भई सभ खेह" से साफ़ दिखाई देता है कि इन दोनों श्लोकों पर एक साथ ही विचार करना है। चाहे यह शरीर-नगरी चार दिनों के लिये ही है, लेकिन इसमें सूर्य का प्रकाश होना चाहिए, इसमें चन्द्रमा की शीतल मधुर किरणें पड़नी चाहियें।

श्लोक अंक १७५ तथा १७७ में माया के जो भयानक प्रभाव बताये गए हैं, उनका इलाज श्लोक अंक १७९ में बताया गया है। जीव के चारों ओर विकारों की उष्णता है, इस ताप से बचने के लिये इसको अन्तरात्मा में चन्द्रमा वाली शीतलता की ज़रूरत है, जैसे चंदन को उसकी अपनी अंदर की शीतलता साँपों के ज़हर से बचाये रखती है। माया के प्रभाव में सदा यह ख़तरा रहता है कि जीव गड़े के समान कठोर न बन जाये, इस कठोरता से बचने के लिये इसको अन्तरात्मा में सूर्य की उष्णता की ज़रूरत है। यह उष्णता (प्यार की गर्मी) तथा यह शीतलता (शान्ति) गुरु-परमात्मा के चरणों में जुड़ने से मिलते हैं।

देख लें, ये सभी श्लोक एक ही ख़याल-लड़ी के मोती हैं।

(ङ) कबीर जी के साथ बे-इंसाफ़ी :

बूडा बंसु कबीर का, उपजिओ पूतु कमालु ॥
हरि का सिमरनु छाडि कै, घरि ले आया मालु ॥११५॥

कबीर जी की बहुत सारी वाणी ऐसी है जिसमें गहरे रहस्य हैं; लेकिन हमारे कई टीकाकार इन कठिन घाटियों को कहानियाँ गढ़-गढ़कर

पार करते आये हैं। कहानियाँ गढ़ते समय कई बार इस बात का ख़याल नहीं रहा कि इस कहानी की टेक पर किये हुये अर्थ हमारे मौजूदा इंसानी-जीवन से मेल खाते हैं या नहीं। कबीर जी का अपनी पत्नी 'लोई' से ग़ुस्सा हो जाना, नामदेव का मुग़ल को परमात्मा कहना—ऐसी कई बे-सिर पैर की कथा कहानियाँ इस समय सिक्ख प्रचारक सुना देते हैं जो असल में सिक्ख धर्म के आशय के ही बिलकुल विरुद्ध होती हैं।

लेकिन इस मौजूदा श्लोक में तो कबीर जी के साथ एक अन्याय भी किया गया है। अपने कच्चे तथा कमज़ोर अर्थ प्रमाणित करने के लिये कहानियाँ बनाने वालों ने यह अनुमान लगाया है कि कबीर जी का पुत्र (जिसका नाम ये लोग 'कमाल' बता रहे हैं) किसी लालच में फंसकर कुछ 'माल' घर ले आया था तथा कबीर जी ने उसकी इस करतूत की अवमानना इस श्लोक में की है। कुछ इसी तरह ही गउड़ी राग के एक छंत में शब्द 'मोहन' देखकर कहानियाँ बनाने वालों ने बाबा मोहन की 'सैंचीओं' की कहानी गुरु अर्जुन साहिब के साथ जोड़ दी। (इसके बारे में पढ़ें मेरी पुस्तक *गुरबाणी ते इतिहास बारे* के पहले तीन विषय।) ऐसे अनुमान लगाने कई बार महापुरुषों के निरादर के समान हो जाते हैं।

इस श्लोक के साथ यह कहानी जोड़ने की आवश्यकता क्यों पड़ी ? सिर्फ़ इसलिये कि इसको 'स्वतन्त्र' (बिलकुल अलग) जानकर इसको अकेले को समझने की कोशिश की गयी है। लेकिन इस सारे समूह को मिलाकर पढ़ें। श्लोक अंक १०२ में कबीर जी हिदायत कर रहे हैं कि :

कबीर रामु न छोडीऐ, तनु धनु जाइ त जाउ ॥

शरीर तथा धन कुर्बान कर भी क्यों "रामु न छोडीऐ"—यह बात श्लोक अंक १०३, १०४ तथा १०५ में समझाकर आगे लिखते हैं कि सिमरन छोड़कर दुनियाँ उलटे राह पर चल पड़ती है :

कबीर हरि का सिमरनु छाडि कै, पालिओ बहुतु कुटंबु ॥
धंधा करता रहि गइआ, भाई रहिआ न बंधु ॥१०६॥

कबीर हरि का सिमरनु छाडि कै, राति जगावन जाइ ॥
सरपनि होइ कै अउतरै, जाए अपुने खाइ ॥१०७॥

कबीर हरि का सिमरनु छाडि कै, अहोई राखै नारि ॥
गदही होइ कै अउतरै, भारु सहै मन चारि ॥१०८॥

प्रभु-चरणों से बिछुड़े मनुष्य को जगत् के कई सहम घेरे रखते हैं—दु:ख, कलेश, रोग, ग़रीबी, लोक-लाज, ईर्ष्या, कई किस्म की अधीनगी, आदि। इनके प्रभाव को भुलाने के लिये कहीं यह बेचारा गुप्त पाप करता है, कहीं संतान की ख़ातिर मसान जगाए जाते हैं, कहीं व्रत रखे जाते हैं। फिर भी सुख नहीं है, सहम ही सहम है। यह सारी अक्लमंदी व्यर्थ जा रही है।

इनका इलाज एक ही है। प्रभु से वियोग के कारण यह दु:ख हैं। सिर्फ़ वियोग दूर करना है, प्रभु के चरणों में जुड़ना है। लेकिन सिर्फ़ 'राम राम' कहने को सिमरन नहीं कहा जा सकता। इस दारू के साथ कई परहेज भी हैं—चस्के, शारीरिक-मोह, जाति-अभिमान, परनिन्दा, कुसंग, व्रत आदि का भ्रम, संक्रान्ति-अमावस्या की भटकन, नाक रखने की ख़ातिर की जा रही व्यर्थ रस्में—ऐसे कई काम हैं जो जब तक न छोड़े जायें, सिमरन अपना जौहर नहीं दिखा सकता। लेकिन इनका त्याग कोई आसान कार्य नहीं, कहीं अपना ही बिगड़ा हुआ मन रोकता है और कहीं लोक-लाज रोकती है। इसलिये सिमरन करना एक बहुत कठिन कार्य है, सूली पर चढ़ने के समान है। लेकिन सिमरन के बिना अन्य कोई रास्ता भी नहीं है जिस पर चलकर मानवता की चोटी पर पहुँचा जा सके:

कबीर चतुराई अति घनी, हरि जपि हिरदै माहि ॥
सूरी ऊपरि खेलना, गिरै त ठाहर नाहि ॥१०९॥

इसलिये वह गाँव पवित्र है, वह कुल भली है, जिसमें कोई भाग्यशाली हरि-नाम का सिमरन करता है:

कबीर सोई मुखु धंनि है, जा मुख कहीऐ रामु ॥
देही किस की बापुरी, पवित्रु होइगो ग्रामु ॥११०॥

कबीर सोई कुल भली, जा कुल हरि को दासु ॥
जिह कुल दासु न ऊपजै, सो कुल ढाकु पलासु ॥१११॥

"हरि का सिमरनु छाडि कै" वाले ख़याल को जारी रखते हुये अगले दो श्लोकों में कहते हैं—मैंने सारे जगत् को पूछकर देख लिया है कि बताओ भाई ! इस राज्य-भाग, मेहल-मंडप, सगे-संबंधियों में से कोई अंत तक निभने वाला साथी भी किसी ने देखा है, लेकिन किसी ने हामी नहीं भरी :

कबीर है गइ बाहन सघन घन, लाख धजा फहराहि ।।
इआ सुख ते भिख्या भली, जउ हरि सिमरत दिन जाहि ।।११२।।

कबीर सभु जगु हउ फिरिओ, मांदलु कंध चढाइ ।।
कोई काहू को नही, सभ देखी ठोकि बजाइ ।।११३।।

फिर भी अंधे हुये मनुष्य को सिमरन की समझ नहीं आती :

मारगि मोती बीथरे, अंधा निकसिओ आइ ।।
जोति बिना जगदीस की, जगतु उलंघे जाइ ।।११४।।

श्लोक अंक १०६, १०७ तथा १०८ वाला ख़याल जारी रखते हुये तथा वही पंक्ति "हरि का सिमरनु छाडि कै" प्रयोग कर कहते हैं :

बूडा बंसु कबीर का, उपजिओ पूतु कमालु ।।
हरि का सिमरनु छाडि कै, घरि ले आया मालु ।।११५।।

श्लोक १०६ से ११५ तक ध्यान से पढ़कर देखें, जगत् की साधारण दशा बता रहे हैं कि सिमरन से दूर रहकर इंसान किस निम्न अवस्था में जा गिरता है। सिमरन से हीन मनुष्य सारी उम्र सिर्फ़ परिवार ही पालता रहता है, परिवार के लिये जगत् के धंधे करता करता आख़िर आत्मिक मौत मर जाता है। सिमरन से हीन ही कोई पुत्र-हीन औरत रात को श्मशान में मुर्दा जगाने चल पड़ती है। हरि-नाम छोड़ने का यह नतीजा है कि कई मूर्ख स्त्रियाँ शीतला आदि का व्रत रखती फिरती हैं। अंतिम श्लोक में कहते हैं—हरि-नाम बिसारने का नतीजा आख़िर यह निकलता है कि मनुष्य अपने अन्दर सिर्फ़ माया का मोह ही बसा लेता है तथा इसका सारा 'बंसु' (आँख, कान, नाक आदि सारी ही इन्द्रियों का समूह) विकारों में ज़रूर डूब जाता है।

श्लोक अंक १०६ से ११५ तक "हरि का सिमरनु छाडि कै" पंक्ति का प्रयोग यह बताता है कि इन श्लोकों में मिला-जुला सामूहिक भाव है।

शब्द 'पूतु' कबीर जी ने अन्य शब्दों (राग सोरठि तथा बसंत) में भी प्रयुक्त किया है, इसका अर्थ है 'मनु'। (विस्तार के साथ समझने के लिये पढ़ें इस श्लोक अंक ११५ के अर्थ।)

(च) केशों के बारे में कबीर जी :

कबीर प्रीति इक सिउ कीए, आन दुबिधा जाइ ॥
भावै लांबे केस करु, भावै घररि मुडाइ ॥२५॥

श्री गुरु ग्रन्थ साहिब की वाणी सिक्ख-आत्मा का प्राण है। भक्त कबीर जी के श्लोक भी श्री गुरु ग्रन्थ साहिब का ही हिस्सा हैं; लेकिन जब हमारे सिक्ख विद्वानों ने यह समझ रखा है कि इन श्लोकों की आपस में ख़यालों का कोई संबंध नहीं है, दूसरे मतों को मानने वालों से तो यह आशा ही नहीं की जा सकती थी कि वे मेहनत कर यहाँ से वास्तविक सचाई को ढूँढ़ते। आज से तीस चालीस साल पहले एक समय ऐसा आया था जब धार्मिक वाद-विवाद होते थे; पंडित, प्रचारक, पादरी तथा मौलवी लोग जलसे कर कर दूसरे धर्मों पर कीचड़ उछालने की कोशिश करते थे, तथा इन जलसों में आये हुये लोग सुन-सुनकर बड़े ख़ुश होते थे। कई सिक्ख-धर्म के विरोधी भाई इस उपर्युक्त श्लोक का हवाला देकर श्री गुरु ग्रन्थ साहिब में से ही केशों का निषेध प्रमाणित करने का यत्न करते थे।

हमने यहाँ केश रखने या न रखने पर कोई बहस नहीं करनी, सिर्फ़ यह देखना है कि प्रसंग के अनुसार इस श्लोक का क्या अर्थ है। जिस लड़ी में यह श्लोक आया है, उसको पेश करने से पहले पाठकों को एक अन्य बात याद करा देनी ज़रूरी है। परंपरा से यह रीति चली आ रही है कि धरती पर तभी कोई महापुरुष प्रकट होता है, जब लोगों के दैनिक जीवन में बहुत कुरीतियाँ आ जायें, जब अपने आप को धार्मिक समझने वाले लोग सिर्फ़ धार्मिक वेश को ही धर्म समझकर साधारण लोगों में इसी

धार्मिक-वेश का प्रचार करें तथा इस तरह धर्म तथा धार्मिक जीवन में बहुत अंतर पड़ जाये। ऐसे समयों में महापुरुष प्रकट होकर अपने समय के धार्मिक आडंबर तथा ठगी आदि की पोल खोलकर लोगों को सही जीवन का रास्ता बताते हैं। लेकिन आज तक यह कभी नहीं हो सका तथा न ही आगे भी कभी होगा कि कोई महापुरुष किसी ऐसी धर्म-मर्यादा पर नुकताचीनी (आलोचना) कर जाये, जो मर्यादा अभी वजूद में भी न आई हो। कबीर जी के समय 'ख़ालसे' जैसा कोई केशाधारी पंथ मौजूद नहीं था, जिसकी किसी रहत-मर्यादा पर कबीर जी को आलोचना करने की ज़रूरत पड़ती।

अब आयें असल विषय पर।

श्लोक अंक १३ से उन लोगों का ज़िकर चला है जो 'दीन' को बिसारकर सिर्फ़ 'दुनी' का व्यापार कर रहे हैं:

कबीर दीनु गवाइआ दुनी सिउ, दुनी न चाली साथि ॥
पाइ कुहाड़ा मारिआ, गाफलि अपुनै हाथि ॥१३॥

यह विषय श्लोक अंक ४० तक पहुँचता है। इस संग्रह के श्लोक अंक २१ से २८ तक ध्यान से पढ़ें:

कबीर सूखु न एंह जुगि, करहि जु बहुते मीत ॥
जो चितु राखहि एक सिउ, ते सुखु पावहि नीत ॥२१॥

कबीर जिसु मरने ते जगु डरै, मेरे मनि आनंदु ॥
मरने ही ते पाईऐ, पूरनु परमानंदु ॥२२॥

राम पदारथु पाइ कै, कबीरा गांठि न खोल्ह ॥
नही पटणु नही पारखू, नही गाहकु नही मोलु ॥२३॥

कबीर ता सिउ प्रीति करि, जा को ठाकुरु रामु ॥
पंडित राजे भूपती, आवहि कउने काम ॥२४॥

कबीर प्रीति इक सिउ कीए, आन दुबिधा जाइ ॥
भावै लांबे केस करु, भावै घररि मुडाइ ॥२५॥

कबीर जगु काजल की कोठरी, अंध परे तिसु माहि ॥
हउ बलिहारी तिन्ह कउ, पैसि जु नीकसि जाहि ॥२६॥

कबीर इहु तनु जाइगा, सकहु त लेहु बहोरि ॥
नांगे पावहु ते गए, जिन्ह के लाख करोरि ॥२७॥

कबीर इहु तनु जाइगा, कवनै मारगि लाइ ॥
कै संगति करि साध की, कै हरि के गुन गाइ ॥२८॥

'दीन' बिसारकर, परमात्मा को भुलाकर मनुष्य पुत्र, स्त्री, धन-पदार्थ आदि कई मित्र बनाता है, लेकिन इन मित्रों से सुख नहीं मिलता। फिर भी सुख की आशा में इन्हों से मोह नहीं तोड़ सकता तथा 'दुनी' के इस मोह की तरफ़ से मरने पर ही 'पूरनु परमानंदु' मिल सकता है। जगत् 'दुनी' में इतना मस्त है कि हरि-नाम को ख़रीदने के लिये कोई तैयार ही नहीं होता। क्योंकि मोह-ग्रसे जीव को यह बहुत ही महंगा सौदा प्रतीत होता है कि 'दुनी' का मोह छोड़कर 'दीन' ख़रीदे। दुनियाँ में उतावलापन बढ़ गया है, कोई किसी का नहीं बनता। चाहे विद्या है, चाहे राज्य है, चाहे ज़मीन-जायदाद है, जिन्होंने इनको अपनी ज़िन्दगी का लक्ष्य बना रखा है उनके संबंध, मित्रता विश्वसनीय नहीं हैं, क्योंकि प्रत्येक के अंदर 'दुविधा' ही 'दुविधा' है। लंबी जटाओं वाले या गंजे संन्यासी साधुओं को देखकर एक गृहस्थी के मन में यह ख़याल पैदा हो जाना स्वाभाविक बात है कि ये लोग तो 'दुनी' त्यागकर 'दीन' के रास्ते पर चल रहे हैं, इनके अंदर तो 'दुविधा' नहीं होगी। कबीर जी कहते हैं कि कोई भेख या बाहरी त्याग 'दुनी' के मोह से बचा नहीं सकता, सिर्फ़ प्रभु-प्रीति ही कारगर नुस्ख़ा है। (*नोट*:—श्लोक अंक २४ की पहली आधी पंक्ति "कबीर ता सिउ प्रीति करि" तथा अंक २५ की भी पहली आधी पंक्ति "कबीर प्रीति इक सिउ कीए" के शब्दों की साझ बताती है कि दोनों में एक ही ख़याल दिया जा रहा है। अंक २४ में केवल दुनियादारों का ज़िकर है, अंक २५ में उनका ज़िकर है जो अपनी तरफ़ से 'दुनियाँ' त्याग गये हैं।) पंडित हो चाहे राजा भूपति हो, विद्या या अनन्त धन-पदार्थ 'दुनी' के मोह की कालिख भरी कोठरी में गिरने से बचा नहीं सकते। लेकिन यह भी भ्रम

ही है कि जटाधारी या रुण्ड-मुण्ड संन्यासी आदि साधु जो हम गृहस्थियों को त्यागी लगते हैं, इस काजल की कोठरी में गिरने से बचे हुये हैं। यह ज़ाहरा त्याग भी बचाने योग्य नहीं है। एक प्रभु-प्रीति ही उपाय है जो साध-संगति में प्राप्त होती है।

(छ) अन्धेरे में ठोकरें :

सन् १९२५ का ज़िकर है, 'होले' के अवसर पर अमृतसर में भारी इकट्ठ हुआ। मैं भी दर्शन करने गया। मुझे मेरे एक रिश्तेदार सज्जन वहाँ मिल गये। बुर्ज बाबा फूला सिंघ जी के निकट उन्होंने डेरा डाला हुआ था। अपने इलाके में उनकी कुछ मान-प्रतिष्ठा बनी हुई थी, लोग उनको 'संत जी' 'संत जी' कहकर बुलाते थे (*नोट :* हमारा वह इलाका अब पाकिस्तान में रह गया है)। वह तो एक चारपाई पर थे तथा पाँच छः सेवक ज़मीन पर बैठे हुये थे। मैं भी फ़तहि बुलाकर सेवकों में बैठ गया। वहाँ ब्रह्म-ज्ञान की बातें हो रही थीं लेकिन अजीब संकेतों में। एक पक्ष कोई प्रश्न करता था तथा दूसरा पक्ष उस प्रश्न के उत्तर में कुछ कहने के स्थान पर प्रश्न के उत्तर में प्रश्न ही कर देता था। ऐसी प्रत्येक प्रश्नोत्तरी के पीछे वे सारे 'हा हा हा' कर ख़ूब ज़ोर से हँसते थे तथा कभी संत जी 'हरे ! हरे ! धन्य हों, तुम धन्य हों' के नारे लगा देते थे।

इस प्रश्नोत्तरी के पीछे वे गुरुवाणी की विचार की ओर चल पड़े। तरीका वही था, विरोधाभास। एक सेवक ने कहा—महाराज जी ! इसका क्या भाव है ?

तनु तपै तनूर जिउ, बालणु हड बलंन्हि ॥
पैरी थकां सिरि जुलां, जे मूं पिरी मिलंन्हि ॥

किसी दूसरे सेवक ने पास से इसका उत्तर दे दिया :

तनु न तपाइ तनूर जिउ, बालणु हड न बालि ॥
सिरि पैरी किआ फेड़िआ, अंदरि पिरी निहालि ॥

सारे मिलकर हँसे तथा संत जी ने चार पाँच बार नारा लगाया, 'हूंह !

हरे ! हरे ! धन्य हों ! धन्य हों !' कुछ समय के लिये सब की समाधि लग गई।

फिर एक अन्य सेवक बोला :

फरीदा पाड़ि पटोला धज करी, कंबलड़ी पहिरेउ ॥
जिनी वेसी सहु मिलै, सेई वेस करेउ ॥

यह सुनकर सबको कुछ उत्साह सा आया, लेकिन फिर एक अन्य सज्जन बोल उठा :

काइ पटोला पाड़ती, कंबलड़ी पहिरेइ ॥
नानक घर ही बैठिआ सहु मिलै, जे नीअति रासि करेइ ॥

यह सुनकर पहले की तरह जैसे ही सारे हँसे, तथा संत जी ने फिर उसी तरह कहा, 'हरे ! हरे! धन्य हों ! धन्य हों!'

कुछ समय मौन में बीता तथा एक सेवक ने कबीर जी का श्लोक सुनाया :

कबीर प्रीति इक सिउ कीए, आन दुबिधा जाइ ॥
भावै लांबे केस करु, भावै घररि मुडाइ ॥२५॥

तथा तुरंत एक अन्य सज्जन ने कहा :

कबीर मनु मूंडिआ नही, केस मुंडाए कांइ ॥
जो किछु कीआ सो मन कीआ, मूंडा मूंडु अजांइ ॥१०१॥

बहुत हैरान सा होकर मैं सोच में पड़ गया कि क्या श्री गुरु ग्रन्थ साहिब में विरोधी बातें भी लिखी हुई हैं, जो इंसानी ज़िन्दगी में मेल नहीं खा सकतीं। तो फिर जीवन-सफ़र में हमें सही रोशनी कैसे मिले ?

लेकिन इन ठोकरों का सिर्फ़ एक ही कारण है कि हम इन श्लोकों को अलग-अलग (स्वतन्त्र) समझते हैं।

यह श्लोक अंक १०१ श्लोक अंक २५ का विरोधी नहीं है। जैसे श्लोक अंक २५ में केश रखने या न रखने पर विचार नहीं है, वैसे ही

इस अंक १०१ में भी केश कटवाने या न कटवाने का विषय नहीं है। इसको ठीक तरह समझने के लिये अंक ९२ से शुरू करें, ९२ से १०१ तक एक ही ख़याल-लड़ी है :

कबीर देखि देखि जगु ढूंढिआ, कहूं न पाइआ ठौरु ॥
जिनि हरि का नामु न चेतिओ, कहा भुलाने अउर ॥९२॥

कबीर संगति करीऐ साध की, अंति करै निरबाहु ॥
साकत संगु न कीजीऐ, जा ते होइ बिनाहु ॥९३॥

कबीर जग महि चेतिओ जानि कै, जग महि रहिओ समाइ ॥
जिन्ह हरि का नामु न चेतिओ, बादहि जनमें आइ ॥९४॥

कबीर आसा करीऐ राम की, अवरै आस निरास ॥
नरकि परहि ते मानई, जो हरि नाम उदास ॥९५॥

कबीर सिख साखा बहुते कीए, केसो कीओ न मीतु ॥
चाले थे हरि मिलन कउ, बीचै अटकिओ चीतु ॥९६॥

कबीर कारनु बपुरा किआ करै, जउ रामु न करै सहाइ ॥
जिह जिह डाली पगु धरउ, सोई मुरि मुरि जाइ ॥९७॥

कबीर अवरह कउ उपदेसते, मुख मै परि है रेतु ॥
रासि बिरानी राखते, खाया घर का खेतु ॥९८॥

कबीर साधू की संगति रहउ, जउ की भूसी खाउ ॥
होनहारु सो होइ है, साकत संगि न जाउ ॥९९॥

कबीर संगति साध की, दिन दिन दूना हेतु ॥
साकत कारी कांबरी, धोए होइ न सेतु ॥१००॥

कबीर मनु मूंडिआ नही, केस मुंडाए कांइ ॥
जो किछु कीआ सो मन कीआ, मूंडा मूंडु अजांइ ॥१०१॥

मन के लिये शान्ति की 'ठौर' सर्व-व्यापक परमात्मा का नाम ही है, जो साध-संगति में से मिलता है, लेकिन जिन्होंने चेलों वाला आडंबर रच लिया है तथा जो बंदगी से हटकर अपनी ही सेवा-पूजा कराने में

मस्त हैं, वे 'साधु' नहीं हैं। ऐसे 'साधुओं' का आश्रय कमज़ोर आश्रय है, वे सिर्फ़ दूसरों को उपदेश देते हैं, उनको स्वयं कोई रस नहीं आता। तथा वह जो सिर मुंडाकर अपने आप को 'साधु' समझते फिरते हैं, यदि उसने अपने मन से विकारों की मैल दूर नहीं की तो सिर के केश दूर करने से वह 'साधु' नहीं बन गया। ऐसे लोग 'साकत' होते हैं, इनकी सुहबत में मन पवित्र होने की जगह मैला हो जाता है।

श्लोक अंक २५ तथा १०१ दोनों में पाखंडी (भेख को प्रधानता देने वाले) साधुओं का ज़िकर है चाहे वे जटाधारी हैं, चाहे रुण्ड-मुण्ड संन्यासी।

ये थोड़े से प्रमाण विचारशील पाठक सज्जनों को इस नतीजे पर पहुँचाने के लिये बहुत होंगे कि कबीर जी के श्लोक अलग अलग अस्तित्व वाले नहीं हैं, ये सारे एक ही लड़ी के मोती हैं।

३. क्या कबीर जी वैष्णव भक्त थे ?

हमारे कई प्रसिद्ध प्रचारक यह कहते सुने जा रहे हैं कि भक्तों की वाणी हू-ब-हू लफ़्ज़-ब-लफ़्ज़ मानी नहीं जा सकती, कई स्थानों पर सिक्ख धर्म से इसमें विचारों का अंतर है। यह प्रचार बहुत ख़तरनाक है, सिक्खों के अंदर श्री गुरु ग्रन्थ साहिब संबंधी दुविधा पैदा करेगा। अजीब दुःखदायी हालत बनी हुई है। श्री गुरु ग्रन्थ साहिब जी की 'बीड़' को तैयार हुये आज साढ़े तीन सौ वर्ष होने को आये हैं, अभी तक आम जनता का तो क्या कहना, सिक्ख विद्वान् भी अपने अंदर यह यकीन पैदा नहीं कर सके कि श्री गुरु ग्रन्थ साहिब जी की सारी वाणी 'गुरु' रूप है तथा सारी वाणी का आशय एक ही है। कहीं कोई विक्षेपता नहीं है, क्योंकि गुरु अर्जुन साहिब जी कहीं भी किसी 'पतरे' (पेज) के हाशिए पर भी ऐसी चेतावनी नहीं लिख गये, तथा साधारण सी समझ वाला मनुष्य भी यह सोच सकता है कि असंबंध ख़यालों वाली 'कविता' को श्री गुरु ग्रन्थ साहिब में दर्ज करने की आवश्यकता ही पैदा नहीं हो सकती थी। अन्य-मतों की गुरमति के साथ असंबंध रस्मों-रीतियों का निषेध, एक स्थान पर नहीं, सैंकड़ों

स्थानों पर किया गया है। फिर गोल-मोल ढंग से कोई शब्द-श्लोक क्यों दर्ज किये जाते, जिनका निर्णय करना सिक्ख जनता के हाथ में छोड़ दिया जाता ?

इसमें कोई संदेह नहीं कि सिक्ख जत्थेबन्दियों की तरफ़ से कहीं कहीं ऐसे आश्रम खुलते रहे हैं तथा खुले हुये हैं जहाँ सिक्ख प्रचारकों को गुरमति की सूझ कराने के यत्न किये जाते हैं, ऐसा बताया जाता है। लेकिन इसके बारे में मेरी एक अनोखी आपबीती है, यहाँ से पाठक सज्जन अनुमान लगा लें कि हम किधर जा रहे हैं ? जनवरी-फ़रवरी सन् १९२८ का ज़िकर है, श्री गुरु हरि राए साहिब जी के जन्म-पर्व से अगला दिन था। मैं उन दिनों गुरु नानक ख़ालसा कालिज गुजरांवाला में पढ़ता था। गुजरांवाला से १५-१६ मील की दूरी पर ज़िला सयालकोट में डसके के पास एक नगर गलोटियाँ है। यहाँ हर साल गुरु हरि राए जी के जन्म दिन पर इलाके की संगति की तरफ़ से दो दिन ज़बरदस्त 'दीवान' होता था, जिसमें सयाने सयाने प्रसिद्ध विद्वान् प्रचारक तथा रागी जत्थे बुलाये जाते थे। मैं १९२८ के गुरु-पर्व का ज़िकर कर रहा हूँ। गुरु नानक ख़ालसा कालिज के सामने की तरफ़ ख़ालसा यतीमख़ाना है, जिसमें एक शानदार गुरुद्वारा बना हुआ है। वहाँ प्रत्येक दिन सुबह कीर्तन होता था तथा पड़ौस की आबादी के लोग सतसंग में आकर इकट्ठा होते थे। श्री गुरु हरि राए जी के जन्म-पर्व से अगले दिन ख़ालसा यतीमख़ाने के गुरुद्वारे में अभी सुबह का सतसंग जारी ही था कि एक उच्चकोटि के सिक्ख आश्रम का उच्चकोटि का विद्वान् प्रचारक गलोटियाँ के दीवान से वापसी पर आ पहुँचा। यह प्रचारक कहीं पहले उस यतीमख़ाने में भी पढ़ता रहा था। यतीमख़ाने के हैड-मास्टर साहिब ने प्रचारक सज्जन की संगति से जान-पहचान करवाई, तथा दस मिनट के लिये व्याख्यान करने की प्रार्थना की। व्याख्यान हुआ, उसमें दो बातें ख़ास रोचक थीं। प्रचारक सज्जन बहुत जल्दी जल्दी बोलते थे तथा व्याख्यान में आधे से ज़्यादा फ़ारसी के शेयर थे। मैं वरनैकुलर मिडल तक पाँच साल फ़ारसी पढ़ता रहा तथा १९२८ में भाई नंद लाल जी की ग़ज़लें करीब करीब आधी मुझे ज़बानी याद (कण्स्थ) थीं। हमारे प्रचारक हमें साअदी तथा हाफ़िज़ सुना रहे थे। मैंने बहुत कोशिश की,

लेकिन उनका व्याख्यान मुझे पूरी तरह समझ न आया। दीवान में बैठी बीबियाँ (स्त्रियाँ) उस व्याख्यान को सुनकर मस्ती में झूम रही थीं। उनको देखकर मैं अपने दिल में बहुत शरमिंदा हुआ कि मेरी कई सालों की पढ़ने पढ़ाने की सिरदर्दी व्यर्थ गई। ये बीबियाँ ही अक्लमन्द निकलीं जो व्याख्यान को समझ रही हैं तथा मैं उल्लू की तरह बिटर बिटर देख रहा हूँ।

व्याख्यान समाप्त हुआ। यतीमख़ाने के हैड-मास्टर साहिब ने उठकर प्रशंसा की, तथा तजवीज़ की कि शहर में ढिंढोरा पिटवा दिया जाये तथा सांयकाल एक घंटा और व्याख्यान करवाया जाये और भाई साहिब जी को ठहरने के लिये प्रार्थना की जाये। हामी भरवाने के लिये उन्होंने कह दिया—क्यों भाई साहिब सिंघ जी, ठीक है न ? मैं तो पहले ही अपनी अनपढ़ता को फिटकार रहा था, यह सुनकर घबराहट से मेरा मुँह खुला ही रह गया तथा मैं कोई 'हाँ, हूँ' न कर सका।

सतसंग समाप्त हुआ। सतसंगी अपने अपने घर जाने लगे। मैंने गुरुद्वारे के अन्दर ही हैड-मास्टर साहिब को बांह से पकड़ लिया तथा कहा—मास्टर जी ! श्री गुरु ग्रन्थ साहिब की हजूरी में खड़े होकर सत्य बताओ कि आपको इस व्याख्यान में से कितना समझ आया है। उन्होंने साफ़ मान लिया कि मेरी समझ में कुछ नहीं आया।

मैंने कहा—आप तीस साल से इस आश्रम में बड़ी बड़ी कक्षाओं के लड़कों को पढ़ा रहे हो, यदि आपको समझ नहीं पड़ा तो ये बीबियाँ क्या समझकर सिर हिला रही थीं ?

कहने लगे—परमात्मा जाने, उन्होंने क्या कुछ समझा था। हैड-मास्टर ने फिर सांयकाल का 'दीवान' फिर कोई नहीं करवाया।

इस उपर्युक्त बताई गई श्रेणी के प्रचारक अभी खुल्लम-खुल्ला तो नहीं लेकिन अकेले में बैठकर कबीर जी के संबंध में यह कहते सुने जा रहे हैं कि कबीर जी वैष्णव थे, माँस खाने के विरुद्ध कह गये हैं। हम उनकी यह शिक्षा मानने को तैयार नहीं हैं। हो सकता है कि यह ख़याल अधिक चल पड़े तथा किसी समय दुःखदाई साबित हो। सो, मैंने इस विषय को पिछले लेख से अलग कर लिया है, ताकि पाठक सज्जन इधर विशेष ध्यान दे सकें।

सन् १९१३ में मैं एफ.ए. की परीक्षा देकर अपने गाँव गया, जो रावी के दूसरी तरफ़ तीन मील पर ज़िला सयालकोट में उस सड़क पर है जो अमृतसर से सयालकोट की ओर जाती है। जुलाई-अगस्त के दिन थे। एक दिन बादल छाये हुये थे और मैं घर से सैर करने के लिये निकला तथा चलते चलते रावी पर जा पहुँचा। दूसरी तरफ़ से नौका में से मुसाफ़िर उतरे, उनको देखने के लिये मैं खड़ा हो गया। एक मुसाफ़िर उतरा, जिसको मैंने पहचान लिया, कभी वह हमारे घर का पुरोहित था। पंडित जी की गठड़ी मैंने उठा ली तथा उनको मैं अपने गाँव ले आया। हम तीन भाई थे तथा तीनों ही सिंघ बन चुके थे। पुरोहित देखकर दुःखी हुये, फिर उन्होंने अपनी गठड़ी में से एक पुस्तक निकाली तथा मुझे कहने लगे—काका ! आ मैं तुझे तेरे गुरु की बातें सुनाऊँ। तुम्हारा गुरु कहता है :

काजीआ बामणा की गल थकी अगदु पड़ै सैतानु वे लालो ।।

अर्थात, जिन लोगों का विवाह न ब्राह्मण पढ़वाता है, न ही काज़ी, उनका विवाह शैतान पढ़वाता है। बताओ, तुम्हारा गुरु यह तुम्हारे लिये ही कह गया है न ?

अपने स्कूल तथा कालिज के सिक्ख लड़कों में चाहे मैं 'उजड़े पिंड भड़ोला महिल' जैसा गुरुवाणी की कुछ सूझ रखने वाला समझा जाता था लेकिन पंडित जी की इस चुभन का उत्तर देने योग्य मैं उस समय नहीं था।

अभी मैं हैरान ही खड़ा था कि पंडित जी ने उसी किताब के कुछ पन्ने और देखकर मुझे कहा—ले काका ! तुम्हारे गुरु ने हमसे एक बार माफ़ी भी मांगी थी :

"मेरो कछू अपराध नहीं, गयो याद ते भूल न कोप चितारो।"

चार-पाँच साल हुये हैं, इसी तरह बहाने से मुझे यहाँ ख़ालसा कालिज अमृतसर में दो 'कादिआनी' भाई आ मिले। घंटा भर यहाँ वहाँ की सिरदर्दी कर वे अपने असल मतलब पर आये तथा कहने लगे—हज़रत बाबा नानक मिरज़ा साहिब के बारे में एक 'पेशीनगोई' (भविष्यवाणी) कर गये हैं तथा सिक्खों को हिदायत कर गये हैं कि आप उनका विरोध न करें :

वेल न पाईआ पंडती..... ॥
वखतु न पाइओ कादीआ..... ॥

कहने लगे—शब्द 'पाईआ' बीत गये समय के लिये है, तथा शब्द 'पाइओ' आने वाले समय के लिये है। गुरु ग्रन्थ साहिब में बिंदी (ं) प्रयोग करने का रिवाज नहीं था, शब्द 'कादीआ' को 'कादीआं' पढ़ना है, यह नगर 'कादीआं' का ज़िकर है।

अन्य-मतों वाले विरोधियों ने तो ये निम्नस्तरीय बातें अनजान सिक्खों को उनके अपने धर्म से विचलित करने के लिये करनी ही हैं लेकिन अफ़सोस!

"इस घर को आग लग रही (गई) घर के चिराग़ से।"

जिस श्लोक में माँस खाने के विरुद्ध उपदेश समझा जा रहा है, वह इस प्रकार है :

कबीर खूबु खाना खीचरी, जा महि अंम्रितु लोनु ॥
हेरा रोटी कारने, गला कटावै कउनु ॥१८८॥

हम पिछले लेख में कई प्रमाण देकर विस्तार से साबित कर चुके हैं कि कबीर जी के सारे श्लोक एक ही ख़याल-लड़ी में पिरोये हुये हैं। किसी एक श्लोक को लड़ी में से अलग कर पढ़ने से असल भाव से दूर होने की संभावना हो सकती है। इस उपर्युक्त श्लोक अंक १८८ को भी लड़ी में से अलग करने के कारण ही भ्रम हो रहा है। इस संग्रह के पाँच श्लोक हैं, जो एक साथ ही पढ़ने तथा विचारने हैं :

कबीर मुलां मुनारे किआ चढहि, सांई न बहरा होइ ॥
जा कारनि तूं बांग देहि, दिल ही भीतरि जोइ ॥१८४॥

सेख सबूरी बाहरा, किआ हज काबै जाइ ॥
कबीर जा की दिल साबति नही, ता कउ कहां खुदाइ ॥१८५॥

कबीर अलह की करि बंदगी, जिह सिमरत दुखु जाइ ॥
दिल महि सांई परगटै, बुझै बलंती नांइ ॥१८६॥

कबीर जोरी कीए जुलमु है, कहता नाउ हलालु ॥
दफतरि लेखा मांगीऐ, तब होइगो कउनु हवालु ॥१८७॥

कबीर खूबु खाना खीचरी, जा महि अंम्रितु लोनु ॥
हेरा रोटी कारने, गला कटावै कउनु ॥१८८॥

कोई भी मज़हब या धर्म हो, इंसान के लिये वह तब तक ही लाभदायक है, जब तक उसके बताये उपदेशों पर चलकर मनुष्य अपने दिल में भलाई पैदा करने की कोशिश करता है, ख़ालिक तथा उसकी ख़लकत के लिये दिल में मुहब्बत बनाता है। जब मनुष्य रिवाजी तौर पर मज़हब के असूलों तथा रस्मों को करने लग जाता है लेकिन यह नहीं देखता कि दिल में कोई अच्छा बदलाव आया है, या नहीं या कहीं भलाई की जगह मन में कठोरता आदि तो नहीं बढ़ रही, उस समय उसके सभी धार्मिक उद्यम व्यर्थ हो जाते हैं।

पठानों, मुग़लों के राज्य के समय हमारे देश में इस्लामी शरह का कानून चलता था। भारत-वासियों के लिये तथा आम मुग़ल, पठानों के लिये भी अरबी बोली बेगाने देश की बोली थी। सो, प्रत्येक मुसलमान कुरान शरीफ़ को नहीं समझ सकता था। इसका नतीजा यह निकला कि जहाँ तक कानून के व्यवहारिक प्रयोग का संबंध था, राजकीय शक्ति काज़ियों मौलवियों के हाथ में थी, क्योंकि यही लोग कुरान शरीफ़ के अर्थ करने में विश्वसनीय माने जाते थे। एक तरफ़ ये लोग राजकीय ताकत के मालिक, दूसरी तरफ़ यही लोग धार्मिक नेता, साधारण लोगों को जीवन का सही रास्ता बताने वाले। ये दोनों विरोधी बातें इकट्ठी हो गयी। राज्य-प्रबंध चलाने के समय ग़ुलाम हिन्दु कौम के साथ कठोरता का व्यवहार करना, इन लोगों के लिये स्वाभाविक बात थी। लेकिन इस कठोरता को अपनी तरफ़ से वे 'इस्लामी शरह' समझते तथा बताते थे। सो, मज़हब में से इनको स्वाभाविक ही दिल की कठोरता ही मिलती गई। जिस भी देश में राज्य-प्रबंध किसी ख़ास मज़हब के असूलों के अनुसार चलाया जाता रहा है, उस मज़हब के प्रचारकों का यही हाल होता रहा है।

कबीर जी अपने समय के काज़ियों मौलवियों की यह दशा देखकर

इन श्लोकों में कह रहे हैं कि मज़हब ने, मज़हब की रस्मों-रीतियों ने, बांग, नमाज़, हज आदि ने दिल की सफ़ाई सिखानी थी, लेकिन यदि रिश्वत, कठोरता, अत्याचार आदि के कारण दिल निर्दयी हो चुका है तो यही हज आदि कर्म दिल को अधिक कठोर बनाये जा रहे हैं, तो इनके करने का कोई लाभ नहीं, क्योंकि जिस मनुष्य के अपने दिल में शान्ति नहीं आई, उसके लिये परमात्मा कहीं भी नहीं है। यही ख़याल कबीर जी ने प्रभाती राग के शब्द अंक ४ में बताया है :

मुलां कहहु निआउ खुदाई ॥ तेरे मन का भरमु न जाई ॥१॥रहाउ॥
पकरि जीउ आनिआ, देह बिनासी, माटी कउ बिसमिलि कीआ ॥
जोति सरूप अनाहत लागी, कहु हलालु किआ कीआ ॥२॥
किआ उजू पाकु कीआ मुहु धोइआ, किआ मसीति सिरु लाइआ ॥
जउ दिल महि कपटु निवाज गुजारहु, किआ हज काबै जाइआ ॥३॥

उपर-लिखित पाँच श्लोकों का भाव यह है :

यदि मुल्लां बांग देकर सिर्फ़ लोगों को ही बुला रहा है, लेकिन उसके अपने दिल में शान्ति नहीं है, हरेक के दिल की जानने वाले परमात्मा को वह इस बांग आदि से धोखा नहीं दे सकता। ऐसा मनुष्य यदि हज भी कर आये तो उसका उसको कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि दिल के कठोर लोगों के लिये परमात्मा है ही नहीं। फिर किसी जानवर को बिसमिल्ला कहकर यह लोग कत्ल करते हैं तथा यह कहते हैं कि यह कत्ल किया जानवर परमात्मा के नाम पर कुर्बानी देने के लायक हो गया है तथा ख़ुदा ने ख़ुश होकर कुर्बानी देने वाले के गुनाह माफ़ कर दिये हैं—यह विचार से रहित है। जानवर का माँस तो ये लोग मिल-जुलकर स्वयं ही खा लेते हैं। कबीर जी कहते हैं कि कुर्बानी के बहाने माँस खाने से खिचड़ी खा लेनी अच्छी है।

इन श्लोकों में कबीर जी ने इस्लामी शरह, बांग, नमाज़, हज, कुर्बानी का ज़िकर किया है। यहाँ शब्द भी सामान्यतः इस्लामी ही प्रयुक्त किये हैं। आगे श्लोक अंक १८९ से लेकर अंक १९६ तक आठ श्लोकों में ब्राह्मण के रस्मी गुरु बनने तथा मुर्ति-पूजा का ज़िकर है। इनसे आगे अंक

१९७ से २०१ तक फिर कुर्बानी देने का ज़िकर है, यहाँ फिर शब्द तथा ख़याल सामान्यतः मुसलमानी हैं :

कबीर हज काबै हउ जाइ था, आगै मिलिआ खुदाइ ॥
सांई मुझ सिउ लरि परिआ, तुझै किन्हि फुरमाई गाइ ॥१९७॥

कबीर हज काबै होइ होइ गइआ, केती बार कबीर ॥
सांई मुझ महि किआ खता, मुखहु न बोलै पीर ॥१९८॥

कबीर जीअ जु मारहि जोरु करि, कहते हहि जु हलालु ॥
दफतरु दई जब काढि है, होइगा कउनु हवालु ॥१९९॥

कबीर जोरु कीआ सो जुलमु है, लेइ जबाबु खुदाइ ॥
दफतर लेखा नीकसै, मार मुहै मुहि खाइ ॥२००॥

कबीर लेखा देना सुहेला, जउ दिल सूची होइ ॥
उसु साचे दीबान महि, पला न पकरै कोइ ॥२०१॥

क्योंकि आम मुसलमान काबे को ख़ुदा का घर मानता है, इसलिये कबीर जी भी वही ख़याल बताकर कहते हैं कि ख़ुदा इस हज पर ख़ुश नहीं होता। अनेक बार हज करने पर भी ख़ुदा ख़ुश होकर क्यों हाजी को दीदार नहीं देता तथा वह हाजी ख़ुदा की निगाहों में अभी भी क्यों गुनहगार समझा जाता है—इस भेद का ज़िकर इन श्लोकों में किया गया है कि ख़ुदा के नाम पर गाय आदि की कुर्बानी दे देनी, मिल-जुलकर सब आप ही खा पी जाना, तथा फिर यह समझ लेना कि इस कुर्बानी के बदले में हमारे गुनाह माफ़ कर दिये गये हैं—यह बहुत बड़ा भ्रम है। यह ख़ुदा को ख़ुश करने का तरीका नहीं। ख़ुदा ख़ुश होता है दिल की पवित्रता से।

हम देख चुके हैं कि जिस श्लोक में खिचड़ी के द्वारा वैष्णव-मत का प्रचार करना समझा जा रहा है, वह असल में ऐसे श्लोकों के संग्रह से संबंध रखता है जिनमें 'कुर्बानी' की रस्म पर बहस है। यदि कोई सज्जन यह कहे कि "परथाइ साखी महा पुरख बोलदे, साझी सगल जहानै" के अनुसार अब इसमें से माँस के विरुद्ध उपदेश लिया जा सकता है, तो

भी यह दलील बेमेल है। रिश्वत आदि के द्वारा मनुष्य का ख़ून चूसकर तथा अन्य धक्के-पाप रोज़ाना करता हुआ यदि कोई मुसलमान यह समझता है कि गाय आदि की 'कुर्बानी' से मैं ख़ुदा को ख़ुश कर रहा हूँ तथा अपने गुनाह माफ़ करवा रहा हूँ तो "साझी सगल जहानै" की कसौटी प्रयुक्त कर ऐसा कहना पड़ेगा—ठगी-फ़रेब की कमाई कर, सूद-ख़ोरी से ग़रीबों का ख़ून चूसकर, सामान्य जनता की बेबसी का फ़ायदा उठाते हुये सौदा इतना महंगा बेचकर कि ग़रीब लोग पीसे जायें, रिश्वत आदि के द्वारा तथा अन्य ऐसे तरीकों का प्रयोग कर जिनसे ग़रीब लोग बहुत दुःखी हों, यदि कोई मनुष्य (चाहे वह किसी भी देश या कौम का है) पैसा कमाता है तथा उसमें से मन्दिर गुरुद्वारा बनाने के लिये दान देता है, तीर्थ-यात्रा करता है, गुरुद्वारों के दर्शन करने पर माया ख़र्च करता है, गुरु-दर पर कड़ाह-प्रसाद भेंट करता है, ऐसे चाहे अनेक पुण्य-कर्म करे; गुरु-परमात्मा उस पर ख़ुश नहीं हो सकता। बस ! इन श्लोकों में इंसानी जीवन की वही तस्वीर है जिसका कुछ एक अंग मलिक भागो वाली साखी में मिलता है।

कबीर जी का एक श्लोक और है जिसके संबंध में यह विचार है कि कबीर जी ने मछली के माँस की मनाही की है :

कबीर भांग माछुली सुरापानि, जो जो प्रानी खांहि ॥
तीरथ बरत नेम कीए, ते सभै रसातल जांहि ॥२३३॥

इस श्लोक के असल भाव को भी तभी समझा जा सकेगा, जब इसको इसके साथी के साथ जोड़कर पढ़ेंगे। यह नया संग्रह अंक २२८ से शुरू होता है :

कबीर तरवर रूपी रामु है, फल रूपी बैरागु ॥
छाइआ रूपी साधु है, जिनि तजिआ बादु बिबादु ॥२२८॥

कबीर ऐसा बीजु बोइ, बारह मास फलंत ॥
सीतल छाइआ, गहिर फल, पंखी केल करंत ॥२२९॥

कबीर दाता तरवरु दया फलु, उपकारी जीवंत ॥
पंखी चले दिसावरी, बिरखा सुफल फलंत ॥२३०॥

कबीर साधू संगु परापती, लिखिआ होइ लिलाट ॥
मुकति पदारथु पाईऐ, ठाक न अवघट घाट ॥२३१॥

कबीर एक घड़ी आधी घरी, आधी हूं ते आध ॥
भगतन सेती गोसटे, जो कीने सो लाभ ॥२३२॥

कबीर भांग माछुली सुरापानि, जो जो प्रानी खांहि ॥
तीरथ बरत नेम कीए, ते सभै रसातल जांहि ॥२३३॥

श्लोक अंक २२८ से एक नया ख़याल चला है। संसार में 'बादु बिबादु' की तपश है, जीव तड़प रहे हैं। परमात्मा का नाम यहाँ एक सुन्दर वृक्ष है। जिन विरले भाग्यशालियों ने दुनियाँ का यह 'बादु बिबादु' छोड़ा है, वे इस वृक्ष की ठंडी छाया हैं। इस छाया का आश्रय लेने से, साधु गुरमुखों की संगति करने से इस 'बादु बिबादु' की तपश में जलने से बचा जा सकता है। इस 'बादु बिबादु' से 'बैरागु' प्राप्त हो जाता है।

लेकिन दुनियाँ में एक अजीब तमाशा हो रहा है। लोग प्रातःकाल धर्म-स्थानों में भी हो आते हैं, व्रत आदि भी रखते हैं, अन्य कई किस्मों के नियमों का निर्वाह भी करते हैं, लेकिन इनके साथ साथ विकारों में भी लिप्त रहते हैं। कबीर जी यहाँ कहते हैं कि 'साधु' की संगति करने का भाव यह नहीं है कि जितनी देर तक सतसंग में बैठो, उतनी देर 'राम-राम' किये जाओ, वहाँ से आकर विकारों में लिप्त हो जाओ। यह तीर्थ-यात्रा, व्रत-नियम सब ही निष्फल हो जाते हैं यदि मनुष्य विकारी जीवन- नहीं छोड़ता।

पिछले श्लोक अंक २३२ में ज़िकर है कि "भगतन सेती गोसटे, जो कीने सो लाभ"। यहाँ अंक २३३ में कहते हैं कि यदि मनुष्य "भगतन सेती गोसटे" से आकर शराब, माँस आदि विकारों में लगा रहे तो वह किया हुआ सतसंग तथा वहाँ किये हुये प्रण (व्रत) सब व्यर्थ जाते हैं।

शब्द 'भांग, मछली तथा सुरा' से यह भाव नहीं लेना चाहिए कि कबीर जी सिर्फ़ भांग तथा शराब से रोकते हैं तथा पोसत अफ़ीम की मनाही नहीं करते। इसी तरह यह बात भी नहीं कि यहाँ मछली का माँस खाने से रोक रहे हैं। सारे प्रसंग को जोड़कर (मिलाकर) पढ़ें। सतसंग भी करना

तथा विकारों में भी लिप्त रहना, कबीर जी इस काम से रोकते हैं। कामी लोग आमतौर पर शराब-माँस का प्रयोग कर काम-वासना व्याभिचार में प्रवृत्त होते हैं, मछली का माँस क्योंकि काम-रुचि अधिक पैदा करने के लिये प्रसिद्ध है, इसलिये कबीर जी ने शराब, भांग, मछली शब्दों का प्रयोग किया है।

श्लोक अंक २२८ से २३६ तक का मिलाजुला भाव :

विकारों तथा वाद-विवाद की तपश से तप रहे इस संसार में परमात्मा का नाम ही शीतलता देने वाला है। यह नाम गुरमुखों की संगति में से मिलता है। सो थोड़ा-बहुत, जितना भी समय मिले, सतसंग ज़रूर करना चाहिये। लेकिन कई लोग ऐसे भी होते हैं जो सतसंग में जाकर राम-राम भी कर आते हैं तथा वहाँ से आकर विकारों में भी लिप्त रहते हैं। ऐसे लोगों के सारे धार्मिक उद्यम निष्फल जाते हैं। सतसंग में से तो यह लाभ कमाना है कि दुनियाँ के रसों में आकर्षित होने के स्थान पर जीव 'किरत कार' (मेहनत की कमाई) करता हुआ अपना ध्यान सदा प्रभु-चरणों में लगाये रखे तथा किसी प्राणी-मात्र से नफ़रत न करे।

इस उपर्युक्त सारी विचार से पाठक सज्जन जान चुके हैं कि कबीर जी ने माँस खाने या न खाने की बहस नही छेड़ी है। जल्दी में ऊपरी दृष्टि से इन श्लोकों को अलग अलग जानकर यह ख़याल बना लेना बहुत ही हानिकारक है कि कहीं कहीं कबीर जी के विचार गुरमति से नहीं मिलते।



कबीर जी के श्लोक
तथा
गुरु नानक साहिब

लेख-लड़ी की मेरी दूसरी पुस्तक *गुरबाणी ते इतिहास बारे* के पहले तीन लेखों में यह बात बड़े विस्तार से बतायी जा चुकी है कि सतिगुरु नानक देव जी अपनी सारी वाणी अपने हाथों आप लिखकर संभालते रहे। गुरु अंगद साहिब को गुरु-गद्दी देते समय यह सारा ख़ज़ाना उन्होंने इनके हवाले कर दिया। गुरु अंगद देव जी ने यह उत्तरदायित्व गुरु अमरदास जी को सौंपते समय गुरु नानक देव जी की वाणी तथा अपनी वाणी गुरु अमरदास जी को दे दी। इसी तरह गुरु अमरदास जी से गुरु रामदास जी तक तथा इनसे गुरु अर्जुन देव जी तक ये सारी वाणी पहुँची, जिसका ज़िकर गुरु अर्जुन देव जी ने एक शब्द में इस प्रकार किया है :

हम धनवंत भागठ सच नाइ ॥
हरि गुण गावह सहजि सुभाइ ॥१॥रहाउ॥

पीऊ दादे का खोलि डिठा खजाना ॥
ता मेरै मनि भइआ निधाना ॥१॥

रतन लाल जा का कछू न मोलु ॥
भरे भंडार अखूट अतोल ॥२॥

खावहि खरचहि रलि मिलि भाई ॥
तोटि न आवै वधदो जाई ॥३॥

कहु नानक जिसु मसतकि लेखु लिखाइ ॥
सु एतु खजानै लइआ रलाइ ॥४॥३१॥१००॥

(गउड़ी गुआरेरी म: ५, पन्ने १८५-८६)

लेख-लड़ी की तीसरी पुस्तक *गुरमति प्रकाश* में निम्नलिखित भक्तों की वाणी में से प्रमाण देकर यह बात स्पष्ट रूप से सिद्ध की जा चुकी है कि इनकी सारी वाणी गुरु नानक देव जी के पास मौजूद थी :

१. बाबा फ़रीद जी। २. भक्त जैदेव जी।

३. भक्त बेणी जी। ४. भक्त रविदास जी।

जब सतिगुरु जी ने 'तीन उदासियों' में सारे भारत तथा अन्य देशों का भ्रमण किया, तब इनके वतन पहुँचकर इनकी संतान या श्रद्धालुओं के पास से इनकी वाणी लाये थे। भक्त रविदास जी तो उस समय जीवित ही थे, उनसे सतिगुरु जी बनारस में मिले थे।

जब हम गुरु नानक देव जी की वाणी तथा भक्तों की वाणी ध्यान से पढ़ते हैं तो यह बात प्रत्यक्ष दिखाई देती है कि सतिगुरु जी का तथा भक्तों का आशय बिलकुल एक था। मूर्ति-पूजा, जाति-अभिमान, ये दो भारी धार्मिक कुरीतियां हिन्दु कौम में उस समय आम प्रचलित थीं, चारों तरफ़ कर्म-काण्ड का जाल बिछा हुआ था; हक्क की कमाई तथा शुद्ध आचरण का धार्मिक जीवन में कोई स्थान नहीं था। करोड़ों लोगों को 'शूद्र' कहकर पैरों के नीचे कुचला जा रहा था। इन सब कुरीतियों के विरुद्ध गुरु नानक देव जी ने बड़े ज़ोर से आवाज़ उठाई तथा अपनी सारी उम्र इसी सुधार में लगा दी। भक्तों की वाणी पढ़कर देखें, उसमें से भी यही प्रतीत होता है कि वे सारे महापुरुष भी सारी उम्र यही काम करते रहे। जैसे ऊच-जाति वालों की तरफ़ से श्री गुरु नानक देव जी के राह में कई रुकावटें डाली गईं, वैसे ही इन भक्तों के साथ भी यही व्यवहार होता रहा, लेकिन ये निडर होकर अपने सुधार का कार्य पूरे ज़ोर से करते रहे। यह स्वाभाविक बात थी कि सतिगुरु नानक देव जी इन महापुरुषों के उद्यम की श्लाघा करते तथा इनकी वाणी सतिगुरु जी को प्यारी लगती। इसलिये उदासियों के समय जिस जिस भक्त की जन्म-भूमि में गये, उनसे या उनके श्रद्धालुओं से उनकी वाणी लिखकर अपने पास अपनी लिखी

वाणी के साथ संभालते गये। जब सतिगुरु जी ने अपनी वाणी गुरु अंगद साहिब को सौंपी, उस समय भक्तों की वाणी भी साथ ही दे दी। तथा गुरु अंगद साहिब से ये सारी वाणी गुरु अमरदास जी को मिली। कबीर जी के इन श्लोकों में से यह सबूत साफ़ मिलते हैं कि ये श्लोक गुरु अमरदास जी के पास मौजूद थे।

(१) श्लोक अंक २८ तथा २९ में कबीर जी लिखते हैं:

कबीर इहु तनु जाइगा, कवनै मारगि लाइ ॥
कै संगति करि साध की, कै हरि के गुन गाइ ॥२८॥

कबीर मरता मरता जगु मूआ, मरि भी न जानिआ कोइ ॥
ऐसे मरने जो मरै, बहुरि न मरना होइ ॥२९॥

पंक्ति "ऐसे मरने जो मरै" के द्वारा कबीर जी ने स्पष्ट शब्दों में यह नहीं बताया कि वे 'ऐसे मरने' से क्या भाव लेते हैं। वैसे श्लोक अंक २८ में वे बता आये हैं कि इस नाशवान् शरीर को सफल करने के लिये "संगति करि साध की, हरि के गुन गाइ"। शब्द 'ऐसे' बताता है कि इसका ज़िकर पहले श्लोक अंक २८ में किया जा चुका है। जब मनुष्य सिर्फ़ 'दुनियाँ' की ख़ातिर भटकता है, तो इस माया को ज़िन्दगी का सहारा बना लेता है, फिर हर समय यह सहम भी टिका रहता है कि कहीं यह राशि-पूँजी हाथ से निकल न जाये, या इस इक्टठी की हुई को जल्दी ही न छोड़ना पड़े, जल्दी ही मौत का नगाड़ा न बज जाये। सो, सिर्फ़ 'दुनियाँ' का ग्राहक मनुष्य इस तरह दिन में कई बार अन-आई मौत मरता रहता है, सहम में हर सयम ग्रसत रहता है। इस रोज़ाना की मौत से बचने के लिये कबीर जी ने श्लोक अंक २८ में 'मारगि' बताया है "संगति करि साध की, हरि के गुन गाइ"। इसी ख़याल को श्लोक अंक २९ में संकेत-मात्र ही कहते हैं, "ऐसे मरने जो मरै"। यह सारी ख़याल-लड़ी श्लोक अंक १३ से शुरू हुई है तथा अंक ४० पर जा समाप्त होती है। लेकिन जो सज्जन सभी श्लोकों को अलग अलग समझ रहे हैं वे 'ऐसे मरने' का अर्थ अपने अनुमान से ही करेंगे।

इस "ऐसे मरने जो मरै" को गुरु अमरदास जी ने स्पष्ट शब्दों में

समझा दिया है। बिहागड़े की वार की पउड़ी अंक १७ के साथ कबीर जी का यह श्लोक अंक २९ तथा गुरु अमरदास जी का श्लोक इस प्रकार है :

(१) सलोक ।। कबीरा मरता मरता जगु मुआ, मरि भि न जानै कोइ ।।
ऐसी मरनी जो मरै, बहुरि न मरना होइ ।।१।।

कबीर जी के इस "ऐसी मरनी जो मरै" के भाव को समझने के लिये गुरु अमरदास जी लिखते हैं :

मः ३ ।। किआ जाणा किव मरहगे, कैसा मरणा होइ ।।
जेकरि साहिबु मनहु न वीसरै, ता सहिला मरणा होइ ।।
मरणै ते जगतु डरै, जीविआ लोड़ै सभु कोइ ।।
गुर परसादी जीवतु मरै, हुकमै बूझै सोइ ।।
नानक ऐसी मरनी जो मरै, ता सद जीवणु होइ ।।२।। (१७)

परमात्मा को मन से न बिसारना तथा उसकी रज़ा को समझना— यह है कबीर जी के गुप्त भाव की व्याख्या, जो सतिगुरु अमरदास जी ने की है। अंत में हजूर ने कबीर जी के शब्दों को दोहराकर कह भी दिया है :

"नानक ऐसी मरनी जो मरै, ता सद जीवणु होइ ।।"

कबीर जी लिखते हैं—"ऐसी मरनी जो मरै"; सतिगुरु जं. .लेखते हैं—"नानक ऐसी मरनी जो मरै"। कबीर जी लिखते हैं—"बहुरि न मरना होइ"; सतिगुरु जी इसी ख़याल को अन्य शब्दों में लिखते हैं—"ता सद जीवणु होइ"।

ख़याल तथा शब्दों की यह साझेदारी अचानक नहीं हो गई, सतिगुरु अमरदास जी के पास कबीर जी का यह श्लोक हू-ब-हू मौजूद था। कबीर जी ने ख़याल को अस्पष्ट सा रखा था, गुरु अमरदास जी ने उसको खोलकर स्पष्ट कर दिया है।

(२) कबीर मुकति दुआरा संकुरा, राई दसएं भाइ ।।
मनु तउ मैगलु होइ रहिओ, निकसो किउ कै जाइ ।।५८।।

कबीर ऐसा सतिगुरु जे मिलै, तुठा करे पसाउ ।।
मुकति दुआरा मोकला, सहजे आवउ जाउ ।।५९।।

राग गूजरी की वार मः ३ की पउड़ी अंक ४ के साथ कबीर जी के ये दोनों श्लोक ऐसे लिखे मिलते हैं :

कबीर मुकति दुआरा संकुड़ा, राई दसवै भाइ ।।
मनु तउ मैगलु होइ रहा, निकसिआ किउकरि जाइ ।।
ऐसा सतिगुरु जे मिलै, तुठा करे पसाउ ।।
मुकति दुआरा मोकला, सहजे आवउ जाउ ।।१।।

इस श्लोक के साथ गुरु अमरदास जी का निम्नलिखित श्लोक मिलाकर पढ़ें, जो उसी पउड़ी के साथ दर्ज है :

नानक मुकति दुआरा अति नीका, नान्हा होइ सु जाइ ।।
हउमै मनु असथूलु है, किउकरि विचुदे जाइ ।।
सतिगुर मिलिऐ हउमै गई, जोति रही सभ आइ ।।
इहु जीउ सदा मुकतु है, सहजे रहिआ समाइ ।।२।।

कबीर जी ने अपने श्लोकों में जो बातें संकेत-मात्र रखी थीं, गुरु अमरदास जी ने उनकी व्याख्या कर दी है। कबीर जी ने कहा, "मनु तउ मैगलु होइ रहा"। शब्द 'मैगलु' की व्याख्या में गुरु अमरदास जी ने लिखा है, "हउमै मनु असथूलु है"। कबीर जी ने लिखा है कि यदि गुरु मिल जाये तो वह "तुठा करे पसाउ"; लेकिन वह कौन-सी कृपा है जो गुरु दयालु होकर करता है, यह बात गुरु अमरदास जी ने बताई है कि "सतिगुर मिलिऐ हउमै गई"।

अब कबीर जी तथा गुरु अमरदास जी के श्लोकों के शब्दों को ध्यान से देखें, कई शब्द समान हैं। सो, यहाँ एक बात साफ़ प्रत्यक्ष है कि जब गुरु अमरदास जी ने यह श्लोक लिखा था, कबीर जी के ये दोनों श्लोक अंक ५८ तथा ५९ उनके पास मौजूद थे।

(३) **कबीर महिदी करि घालिआ, आपु पीसाइ पीसाइ ।।**
तै सह बात न पूछीऐ, कबहु न लाई पाइ ।।६५।।

श्लोक अंक ४१ से नई ख़याल-लड़ी चलती है जो अंक ७० पर जा समाप्त होती है। इस सारी लड़ी को ध्यान से मिलाकर पढ़कर देखें, अंक ६० तथा ६१ तक कबीर जी कहते आ रहे हैं कि तीर्थ-स्नान तथा उच्च-जाति कुल का आश्रय मनुष्य को परमात्मा का सिमरन करने से रोकते हैं, बल्कि ये 'लाख अहेरी' तथा 'पांचउ लरिका' के जाल में फंसा देते हैं। इसी तरह जायदाद का स्वामित्व तथा माया की ममता भी प्रभु-चरणों में जुड़ने नहीं देती। तब तो ज़िन्दगी की सारी दौड़-भाग उपलब्धियों के लिये ही नहीं चाहिये। लेकिन दूसरी तरफ़ दुनियाँ छोड़कर धूणियाँ तपाने से, उलटे लटकने से तथा ऐसे ही अन्य अनेक कष्ट शरीर को देने से भी परमात्मा नहीं मिलता। दुनियाँ की 'किरत कार' (कार-व्यापार) करनी है, तथा हक्क की कमाई करते हुये उसके दर से नाम की 'दाति' भी मांगनी है। उसकी याद सिर्फ़ उसकी बख़्शश (कृपा) है। किसी जप, तप का कोई मान नहीं किया जा सकता।

कबीर जी के इस ख़याल को, जो थोड़ा सांकेतिक शब्दों में है, गुरु अमरदास जी ने स्पष्ट शब्दों में बयान किया है। रामकली की वार मः ३ की पउड़ी अंक २ के साथ पहले कबीर जी का उपर्युक्त श्लोक है, फिर :

मः ३ ॥ नानक महिदी करि कै रखिआ, सो सहु नदरि करेइ ॥
आपे पीसै आपे घसै, आपे ही लाइ लएइ ॥
इहु पिरम पिआला खसम का, जै भावै तै देइ ॥२॥२॥

दोनों श्लोकों के समान शब्द साफ़ बता रहे हैं कि यह श्लोक लिखते समय गुरु अमरदास जी के पास कबीर जी का श्लोक मौजूद था।

(४) **कबीर जो मै चितवउ ना करै, किआ मेरे चितवे होइ ॥**
अपना चितविआ हरि करै, जो मेरे चिति न होइ ॥२१९॥

इसके साथ गुरु अमरदास जी का निम्नलिखित श्लोक अंक २२० है :

मः ३ ॥ चिंता भि आपि कराइसी, अचिंतु भि आपे देइ ॥
नानक सो सालाहीऐ, जि सभना सार करेइ ॥२२०॥

दोनों श्लोकों को मिलाकर पढ़ने से साफ़ दिखाई पड़ता है कि गुरु अमरदास जी ने कबीर जी के श्लोक अंक २१९ के संबंध में इस श्लोक का उच्चारण किया था।

लेख-लड़ी की दूसरी पुस्तक *गुरबाणी ते इतिहास बारे* में हम देख आये हैं कि गुरु अमरदास जी को सारी वाणी गुरु अंगद साहिब के पास से मिली थी। यह नहीं हो सकता कि उनको सिर्फ़ ये चार श्लोक मिले थे, ये सभी श्लोक एक ही ख़याल-लड़ी में पिरोये हुये हैं, तथा यह सारा संग्रह इकट्ठा ही था, जो सारे का सारा गुरु नानक देव जी के पास था, तथा उनसे गुरु अंगद साहिब जी को तथा फिर गुरु अमरदास जी को मिला था।



सलोक भक्त कबीर जीउ के

१ओं सतिगुरप्रसादि ॥

कबीर मेरी सिमरनी, रसना ऊपरि रामु ॥
आदि जुगादी सगल भगत, ता को सुखु बिस्रामु ॥१॥

पद अर्थ : सिमरनी—माला। रसना—जीभ। आदि—संसार के शुरू से। जुगादी—जुगादि, युगों के प्रारंभ से। ता को—उस (राम) का, उस प्रभु का (नाम)। विस्रामु—अडोलता, स्थिरता, शान्ति।

अर्थ : हे कबीर ! मेरी रसना पर राम (का नाम) बस रहा है—यही मेरी माला है। जबसे सृष्टि बनी है, सभी भक्त (यही नाम) सिमरते आये हैं। उसका नाम (ही भक्तों के लिये) सुख तथा शान्ति (का कारण) है।१।

कबीर मेरी जाति कउ, सभु को हसनेहारु ॥
बलिहारी इस जाति कउ, जिह जपिओ सिरजनहारु ॥२॥

पद अर्थ : कउ—को। सभु को—प्रत्येक मनुष्य। हसनेहारु—हँसने का आदी। बलिहारी—कुर्बान। जिह—जिसके द्वारा, जिस जाति में जन्म लेकर।

अर्थ : हे कबीर ! मेरी जाति पर प्रत्येक मनुष्य हँसता था (अर्थात, जुलाहों की जाति को लेकर प्रत्येक व्यक्ति मज़ाक करता है, उपहास करता है) लेकिन अब मैं इस जाति पर कुर्बान हूँ, क्योंकि इसमें जन्म लेकर मैंने अपने परमात्मा की बंदगी की है (तथा आत्मिक सुख का अनुभव कर रहा हूँ)।२।

भाव : निम्न से निम्न-जाति भी श्लाघनीय हो जाती है, जब उसमें जन्म लेकर कोई मनुष्य परमात्मा की भक्ति करता है। निम्न-जाति वाले को भी कोई मनुष्य नाम सिमरन से रोक नहीं सकता।

कबीर डगमग किआ करहि, कहा डुलावहि जीउ ।।
सरब सूख को नाइको, राम नाम रसु पीउ ।।३।।

पद अर्थ : किआ डगमग करहि—तू क्यों डोलता है ? तू प्रभु-भक्ति से क्यों जी चुराता है ? कहा—और कहाँ, प्रभु के बिना अन्य कहाँ ? जीउ—जिंद, मन। नाइको—मालिक।

अर्थ : हे कबीर ! (सुख के लिये परमात्मा को भूलकर) अन्य किस तरफ़ मन को भटका रहा है ? (परमात्मा की याद से) क्यों जीअ चुराता है ? परमात्मा के नाम का अमृत पी, यह नाम ही सारे सुखों का प्रेरक है (सारे सुख परमात्मा स्वयं ही देने योग्य है) ।३।

कबीर कंचन के कुंडल बने, ऊपरि लाल जड़ाउ ।।
दीसहि दाधे कान जिउ, जिन मनि नाही नाउ ।।४।।

पद अर्थ : कंचन—सोना। कुंडल—कानों में पहनने वाले, 'बाले'। ऊपरि—उन कुंडलों के ऊपर। दीसहि—दिखाई देते हैं। दाधे—जले हुये। कान—काना (बांस के बने हुये)। मनि—मन में।

अर्थ : हे कबीर ! यदि सोने के कुंडल बने हुये हों, उन कुंडलों पर लाल जड़े हुये हों (तथा ये कुंडल लोगों ने कानों में डाले हों); लेकिन जिनके मन में परमात्मा का नाम नहीं बसता, उनके यह कुंडल सड़े हुये कानों (बांस के बने हुए) जैसे दिखते हैं (जो बाहर से तो चमकते हैं, लेकिन अन्दर से राख होते हैं) ।४।

भाव : नाम के बिना मनुष्य के अन्दर जलन टिकी रहती है।

कबीर ऐसा एकु आधु, जो जीवत मिरतकु होइ ।।
निरभै होइ कै गुन रवै, जत पेखउ तत सोइ ।।५।।

पद अर्थ : एकु आधु—कोई विरला मनुष्य। मिरतकु—मृतक, दुनियाँ

के रसों की तरफ़ से मुर्दा, दुनियावी सुखों की तरफ़ से बे-परवाह। निरभै—निडर; सुख मिले चाहे दुःख आये, इस बात की परवाह न हो। रवै—सिमरन करे, याद करे। गुन रवै—प्रभु के गुण याद करे, गुण गाये। जत—जिधर। पेखउ—मैं देखता हूँ। तत—तत्र, वहाँ, उधर।

अर्थ : हे कबीर ! ऐसा कोई विरला ही मनुष्य होता है, जो सांसारिक सुखों की तरफ़ से बे-परवाह रहे, सुख मिले चाहे दुःख आये—इस बात की परवाह न करता हुआ उस परमात्मा के गुण गाये, जिसको मैं जिधर देखता हूँ, उधर ही मौजूद है।५।

भाव : जब तक सांसारिक सुखों की लालसा है, सिमरन नहीं हो सकता।

कबीर जा दिन हउ मूआ, पाछै भइआ अनंदु ॥
मोहि मिलिओ प्रभु आपना, संगी भजहि गोबिंदु ॥६॥

पद अर्थ : जा दिन—(प्रभु के गुण गाकर) जिस दिन, जब। हउ मूआ—'मैं मैं' करने वाला समाप्त हो गया, मैं सुखी होऊँ, मैं धनाढ्य होऊँ; यह ख़याल समाप्त हो गया। पाछै—हउमै समाप्त होने पर। मोहि—मुझे। आपना—मेरा प्यारा। संगी—साथी, मेरी ज्ञानेन्द्रियां। भजहि—सिमरन करने लग जाती हैं। गोबिंदु—[अक्षर 'ग' के साथ दो मात्रायें हैं—ओ (ो) तथा उ (ु); असल शब्द गोबिन्द है, यहां गुबिंद पढ़ना है।]

अर्थ : हे कबीर ! (प्रभु के गुण याद कर) जब मेरा 'मैं मैं' करने वाला स्वभाव समाप्त हो गया, तब मेरे अन्दर सुख बन गया। (सिर्फ़ सुख ही न बना) मुझे मेरा प्यारा परमात्मा मिल गया तथा अब मेरी साथी ज्ञानेन्द्रियां भी परमात्मा को ही याद करती हैं (ज्ञानेन्द्रियों की रुचि परमात्मा की ओर हो गई है)।६।

भाव : सुख 'हउ' के त्याग में है, सिमरन भी 'हउ' को छोड़ने से ही हो सकता है।

कबीर सभ ते हम बुरे, हम तजि भलो सभु कोइ ॥
जिनि ऐसा करि बूझिआ, मीतु हमारा सोइ ॥७॥

पद अर्थ : हम तजि—मेरे बिना। सभु कोइ—प्रत्येक जीव। जिनि—जिस मनुष्य ने। ऐसा करि—इस तरह। बूझिआ—समझ लिया है, सूझ आ गई है।

नोट : इस श्लोक में पिछले श्लोक की कुछ व्याख्या सी है। 'हउ मूआ' के ख़याल को समझाया है। 'हउ' के आसरे मनुष्य अपने ही अंदर गुण देखता है, लेकिन 'हउ मुआ' वाली हालत बनती है, तो यह पहला स्वभाव बिलकुल बदल जाता है, फिर दूसरों में गुण दिखाई देने लगते हैं।

अर्थ : हे कबीर ! (हरि-नाम सिमरन कर, अब जब मेरा 'मैं मैं' करने वाला स्वभाव दूर हो गया है, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि) मैं सबसे बुरा हूँ, प्रत्येक जीव मुझसे अच्छा है, (सिर्फ़ यही नहीं) जिस जिस भी मनुष्य ने इसी तरह की सूझ प्राप्त कर ली है, वह भी मुझे अपना मित्र प्रतीत होता है।७।

कबीर आई मुझहि पहि, अनिक करे करि भेस ।।
हम राखे गुर आपने, उनि कीनो आदेसु ।।८।।

पद अर्थ : आई—(यह हउमै मुझे कुमार्ग पर डालने) आई। मुझहि पहि—मेरे पास भी (जैसे यह दूसरों के पास आती है)। भेस—वेश। करे करि—करि करि, बार बार कर। अनिक...भेस—कई वेश धारकर, कई ढंग बनाकर, कई तरीकों से, कई शक्लों में। हम—मुझे। उनि—उस (हउमै) ने। आदेसु—नमस्कार। उनि कीनो आदेसु—उस हउमै ने नमस्कार की, वह हउमै बदलकर नम्रता बन गई।

नोट : धन, जवानी, विद्या, राज्य, धर्म-कर्म आदि मनुष्य में 'हउमै' पैदा कर देते हैं। जिन उद्यमों को मनुष्य बहुत अच्छे समझकर करता है वे भी कई बार अहंकारी बना देते हैं। सुर्योदय से पहले प्रभु को याद करना, ज़रूरत-मंदों की सेवा करनी आदि भले कार्य हैं; लेकिन यदि मनु र थोड़ा-सा भी असावधान हो जाये तो यही गुण हउमै का अवगुण पैदा कर देते हैं कि मैं धार्मिक हूँ, मैं दानी हूँ।

अर्थ : हे कबीर ! (यह हउमै, जैसे दूसरों को भ्रम में डालने के लिये आती है वैसे) मेरे पास भी कई रूपों में आई। लेकिन मुझे प्यारे

सतिगुरु ने (इससे) बचा लिया तथा वह 'हउमै' बदलकर नम्रता बन गई।८।

कबीर सोई मारीऐ, जिह मूऐ सुखु होइ ॥
भलो भलो सभु को कहै, बुरो न मानै कोइ ॥९॥

पद अर्थ : सोई—इस हउमै को ही। जिह मूऐ—जिस हउमै के मरने से। सभु को—प्रत्येक जीव। भलो भलो कहै—(हउमै के त्याग की प्रत्येक जीव) प्रशंसा करता है। कोइ बुरो न मानै—(हउमै के मारने को) कोई मनुष्य बुरा काम नहीं कहता।९।

अर्थ : हे कबीर ! इस हउमै को ही मारना चाहिए, क्योंकि इसके मरने से ही सुख होता है। हउमै के त्याग की प्रत्येक मनुष्य प्रसंसा करता है, कोई भी मनुष्य इस कार्य को बुरा नहीं कहता।९।

कबीर राती होवहि कारीआ, कारे ऊभे जंत ॥
लै फाहे उठि धावते, सि जानि मारे भगवंत ॥१०॥

पद अर्थ : कारीआ—काली, अंधेरी। ऊभे—उठ खड़े होते हैं, चल पड़ते हैं। कारे जंत—काले जीव, काले दिल वाले लोग, चोर आदि विकारी मनुष्य। लै—लेकर। उठि धावते—उठ दौड़ते हैं। सि—ऐसे मनुष्य। जानि—जान ले, समझ ले, यकीन कर। मारे भगवंत—परमात्मा से बहुत दूर, परमात्मा के मारे हुये।

अर्थ : हे कबीर ! जब रातें अंधेरी होती हैं, तो चोर आदि काले दिल वाले लोग (अपने घरों से) उठ खड़े होते हैं, फंदे लेकर (दूसरों को मारकर घर लूटने के लिये) चल पड़ते हैं, लेकिन यकीन जानो, ऐसे लोग परमात्मा की ओर से मारे हुए होते हैं।१०।

नोट : अंक ९ में लिखते हैं कि जो मनुष्य अपने भीतर से हउमै को मारता है वह सुखी है, जगत् भी इस कार्य की प्रशंसा करता है। इसके मुकाबले में ऐसे लोग हैं जो औरों को मारने चल पड़ते हैं, जान तो अपनी भी वे हथेली पर रखकर ही चलते हैं लेकिन यह बहादुरी फिटकार-योग्य है। संसार भी निन्दा करता है तथा उनके दिल भी काले ही रहते हैं। ऐसे परमात्मा से बिछुड़े हुये लोगों को भला सुख कहाँ ?

कबीर चंदन का बिरवा भला, बेढ़िओ ढाक पलास ॥
ओइ भी चंदनु होइ रहे, बसे जु चंदन पासि ॥११॥

पद अर्थ : बिरवा—छोटा-सा पेड़। बेढ़िओ—घिरा हुआ। पलास—पलाश। ओइ—वे ढाक, पलाश के वृक्ष। जु—जो वृक्ष। बसे—बसते हैं, उगे हुये होते हैं। पासि—पास, निकट।

अर्थ : हे कबीर ! चंदन का छोटा-सा पेड़ भी अच्छा जानो, चाहे वह ढाक, पलाश जैसे वृक्षों से घिरा हुआ हो। वे ढाक, पलाश जैसे बेकार वृक्ष भी, जो चंदन के पास उगे हुये होते हैं, चंदन ही हो जाते हैं।११।

नोट : जहाँ हउमै (अहंकार) है, वे परमात्मा से बिछुड़े हुये हैं, उनके दिल काली रातों जैसे काले हैं, वहाँ सुख कहाँ ?

दूसरी तरफ़, एक छोटा-सा, ग़रीब-सा मनुष्य भी बड़ा भाग्यशाली है यदि उसके अन्दर विनम्रता की सुगंध है। इस सुगंध से वह आस-पास बहुतों का बेड़ा पार कर देता है।

कबीर बांसु बडाई बूडिआ, इउ मत डूबहु कोइ ॥
चंदन कै निकटे बसै, बांसु सुगंधु न होइ ॥१२॥

पद अर्थ : बडाई—अहंकार में, ऊँचा लंबा होने के अभिमान में। बूडिआ—डूबा हुआ जानो। कोइ—आप कोई पक्ष। इउ—इस तरह। मत डूबहु—न डूबना। निकटे—पास, निकट। सुगंधु—सुगंध वाला।

अर्थ : हे कबीर ! बांस का पेड़ (ऊँचा, लंबा होने के) अभिमान में डूबा हुआ है, बांस चंदन के पास भी उगा हुआ हो, उसमें चंदन वाली सुगंध नहीं आती। (हे भाई) आप कोई पक्ष भी बांस जैसे (अभिमान में) न डूब जाना।१२।

श्लोक अंक १ से १२ तक का मिला-जुला भाव :

सुख सिर्फ़ वहाँ है जहाँ प्रभु की याद है क्योंकि प्रभु का सिमरन ही मनुष्य की 'मैं मैं' का नाश करता है, तथा सुख 'मैं मैं' के नाश में

है। गुरु-दर पर पहुँचकर की गई प्रभु की बंदगी मनुष्य की हउमै को नष्ट कर उसे विनम्र बना देती है। हउमै (अभिमान) को मारना एक ऐसा भला कार्य है जिसकी प्रशंसा सारा संसार करता है। विनम्र मनुष्य, मानो चंदन का वृक्ष है, जो सबको सुगंध देता है। हउमै के मारे हुये मनुष्य अंधेरी रात्रियों जैसे काले दिल वाले होते हैं, वे मानो बांस हैं, चंदन के समीप होते हुये भी चंदन की सुगंध से रहित रहते हैं तथा आपस में टकरा-टकराकर जलते हैं।

श्लोक अंक १३ से ४० तक :

कबीर दीनु गवाइआ दुनी सिउ, दुनी न चाली साथि ॥
पाइ कुहाड़ा मारिआ, गाफलि अपुनै हाथि ॥१३॥

पद अर्थ : दीनु—मज़हब, धर्म। सिउ—के लिये। पाइ—पैर पर। गाफलि—ग़ाफ़िल (मनुष्य) ने।

अर्थ : हे कबीर ! ग़ाफ़िल मनुष्य ने 'दुनियाँ' (के धन-पदार्थ) के लिये 'दीन' गंवा लिया, (अंत समय यह) दुनियाँ भी मनुष्य के साथ न चली, (सो) लापरवाह मनुष्य ने अपने पैर पर अपने ही हाथों से कुल्हाड़ी मार ली (अर्थात, अपना नुकसान स्वयं ही कर लिया)।१३।

कबीर जह जह हउ फिरिओ, कउतक ठाओ ठाइ ॥
इक राम सनेही बाहरा, ऊजरु मेरै भांइ ॥१४॥

पद अर्थ : जह जह—जहाँ जहाँ। हउ—मैं। कउतक—कौतक, रंग तमाशे। ठाओ ठाइ—जगह-जगह, प्रत्येक स्थान पर। सनेही—स्नेह करने वाला। बाहरा—बिना, बग़ैर। ऊजरु—सुनसान स्थान। मेरै भांइ—मेरे लिये। राम सनेही—राम से स्नेह करने वाला, परमात्मा से प्रेम करने वाला।

अर्थ : हे कबीर ! मैं जहाँ जहाँ गया हूँ, जगह-जगह पर 'दुनियाँ' वाले रंग-तमाशे ही (देखे) हैं; लेकिन मेरे लिये तो वह स्थान उजड़ा हुआ (सुनसान) है, जहाँ परमात्मा से प्रेम करने वाला (संत) कोई नहीं (क्योंकि वहाँ 'दुनियाँ' ही 'दुनियाँ' देखी है, 'दीन' का नाम-निशान नहीं)।१४।

कबीर संतन की झुंगीआ भली, भठि कुसती गाउ ॥
आगि लगउ तिह धउलहर, जिह नाही हरि को नाउ ॥१५॥

पद अर्थ : झुंगीआ—छोटी-सी झोंपड़ी। भली—सुन्दर। भठि—भट्ठी (जैसा)। गाउ—गाँव। कुसती—खोटा मनुष्य, बेईमान। आगि—आग। लगउ—बेशक लग जाये। (*नोट :* व्याकरण के अनुसार शब्द 'लगउ' आज्ञा, भविष्यत्, अन्यपुरुष एक-वचन है, जैसे "भिजउ, सिजउ कंबली अलह वरसउ मेहु" में शब्द 'भिजउ' 'सिजउ' तथा 'वरसउ' हैं)। तिह धउलहर—उस महल-मंडप को। जिह—जिस (धउलहर) में। को—का। नाउ—नाम।

अर्थ : हे कबीर ! संतों की छोटी-सी असुन्दर-सी झोंपड़ी भी (मुझे) सुन्दर (लगती) है (वहाँ 'दीन' का व्यापार होता है) लेकिन खोटे मनुष्य का गाँव (जलती) भट्ठी जैसा (जानो), (वहाँ हर समय दुनियाँ की तृष्णा की आग जल रही है)। जिस महल-मंडप में परमात्मा के नाम का सिमरन नहीं होता, उसको चाहे आग लग जाये (मुझे ऐसे महल की ज़रूरत नहीं) ।१५।

कबीर संत मूए किआ रोईऐ, जो अपुने ग्रिहि जाइ ॥
रोवहु साकत बापुरे, जु हाटै हाट बिकाइ ॥१६॥

पद अर्थ : किआ रोईऐ—रोने की आवश्यकता नहीं, क्यों रोना हुआ ? ग्रिहि—घर में। अपुने ग्रिहि—अपने घर में, उस घर में जो सिर्फ़ उसका अपना है, जहाँ से उनको कोई निकालेगा नहीं। जाइ—जाता है। साकत—परमात्मा से टूटा हुआ, परमात्मा से बिछुड़ा हुआ जीव, जो 'दुनियाँ' के लिये 'दीन' गंवा रहा है। बापुरा—बेचारा, बदनसीब, मंदभागी। रोवहु—अफ़सोस करो। जु—जो। हाटै हाट—दुकान दुकान पर, प्रत्येक दुकान पर, एक दुकान से दूसरी दुकान पर। बिकाइ—बिकता फिरता है, किये विकारों के बदले में घुमाया जाता है।

अर्थ : हे कबीर ! किसी संत की मृत्यु पर अफ़सोस करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह संत तो उस घर में जाता है जहाँ से उसको कोई निकालेगा नहीं (अर्थात, वह संत 'दीन' का व्यापारी होने के कारण

प्रभु-चरणों में जा पहुँचता है); यदि अफ़सोस करना है तो उस मंदभागी (के मरने) पर अफ़सोस करें जो प्रभु-चरणों से बिछुड़ा हुआ है, वह अपने किए मंद-कर्मों के बदले में प्रत्येक दुकान पर बिकता है (अर्थात, सारी उम्र 'दुनियाँ' के लिये भटकनों के कारण अब कई जूनों में भटकता है) ।१६।

कबीर साकतु ऐसा है, जैसी लसन की खानि ॥
कोने बैठे खाईऐ, परगट होइ निदान ॥१७॥

पद अर्थ : साकतु—प्रभु से टूटा हुआ मनुष्य, 'दुनियाँ' की ख़ातिर 'दीन' को गंवा देने वाला मनुष्य। लसन—लहसुन। खानि—खान, कोठी, स्टोर। कोने—(किसी घर के) किनारे पर, एक कोने में, किसी छिपे हुए स्थान पर। बैठे—बैठि, बैठकर। परगट होइ—प्रकट हो जाता है। निदान—ज़रूर, आख़िर।

अर्थ : हे कबीर ! जो मनुष्य परमात्मा से टूटा हुआ है (जो 'दुनियाँ' की ख़ातिर 'दीन' को गंवाये जा रहा है) उसको ऐसे समझो जैसे लहसुन की भरी हुई कोठड़ी है। लहसुन को किसी छिपे हुऐ स्थान पर भी बैठ-कर खा लें, तो भी वह (अपनी गंध से) ज़रूर प्रकट हो जाता है। (साकत के अन्दर से भी जब निकलेंगे, मंद वचन ही निकलेंगे) ।१७।

कबीर माइआ डोलनी, पवनु झकोलनहारु ॥
संतहु माखनु खाइआ, छाछि पीऐ संसारु ॥१८॥

पद अर्थ : माइआ—माया, 'दुनियाँ'। डोलनी—चाटी, दूध की चाटी। पवनु—हवा, श्वास। झकोलनहारु—वह वस्तु जिससे दूध को बिलोया जाता है, बिलोना। संतहु—संतों ने, उन लोगों ने जो 'दुनियाँ' की ख़ातिर 'दीन' को खोने नहीं देते। छाछि—छाछ, लस्सी। संसारु—'दुनियाँ' का व्यापारी।

अर्थ : हे कबीर ! इस 'दुनियाँ' (माया) को दूध की भरी हुई चाटी समझो, (प्रत्येक जीव का) श्वास श्वास (उस चाटी को बिलोने के लिये) बिलोना मान लो। (जिनको इस दूध को बिलोने का ढंग आ गया, जिन्होंने परमात्मा का सिमरन करते हुये इस माया का प्रयोग किया, जिन्होंने 'दुनियाँ' का व्यापार किया लेकिन 'दीन' भी खोने नहीं दिया) उन संत-जनों ने

(इसमें से) मक्खन (प्राप्त किया है) खाया (अर्थात, मानव-जन्म के असल मनोरथ को हासिल किया, जैसे दूध को बिलोने का असल मनोरथ है मक्खन निकालना); लेकिन सिर्फ़ 'दुनियाँ' का व्यापारी (मानो) छाछ पी रहा है (मानव-जन्म के असली मनोरथ को प्राप्त नहीं कर सका) ।१८।

कबीर माइआ डोलनी, पवनु वहै हिवधार ।।
जिनि बिलोइआ तिनि खाइआ, अवर बिलोवनहार ।।१९।।

पद अर्थ : वहै—चलती है। हिव—बर्फ़। हिवधार—बर्फ़ की धार वाला, शीतल, ठंडा। पवनु—श्वास। पवनु हिवधार वहै—जिस चाटी में (जिस हांडी में) शांत श्वास-रूप बिलोना चलता है, नाम की शीतलता वाले श्वासों का बिलोना चलता है। जिनि—जिस मनुष्य ने। बिलोइआ—(इस बिलोने से) बिलोया है। अवर—अन्य लोग। बिलोवनहार—सिर्फ़ बिलो ही रहे हैं।

अर्थ : हे कबीर ! यह 'दुनियाँ' (माया) मानो, दूध की हांडी है, (इस हांडी में) नाम की ठंडक वाले श्वास मानो बिलोना हिलाया जा रहा है। जिस (भाग्यशाली मनुष्य) ने (इस बिलोने से दूध) बिलोया है उसने (मक्खन) खाया है, बाकी अन्य लोग सिर्फ़, बिलो ही रहे हैं (उनको मक्खन खाने को नहीं मिलता), (अर्थात, जो लोग निर्वाह-मात्र माया का प्रयोग करते हैं तथा साथ साथ श्वास-श्वास परमात्मा को याद रखते हैं, उनका जीवन शान्तिपूर्ण होता है। मानव-जन्म का असल मनोरथ वे प्राप्त कर लेते हैं, लेकिन जो लोग 'दीन' बिसारकर सिर्फ़ 'दुनियाँ' के पीछे दौड़-भाग करते हैं वे ख़ुआर होते हैं तथा जीवन व्यर्थ गंवा देते हैं) ।१९।

कबीर माइआ चोरटी, मुसि मुसि लावै हाटि ।।
एकु कबीरा ना मुसै, जिनि कीनी बारह बाट ।।२०।।

पद अर्थ : चोरटी—(शब्द 'चोर' से 'चोरटा' अल्पार्थक पुलिंग नाम है, 'चोरटी' इसका स्त्री-लिंग है) चोरनी, ठगणी। मुसि—ठगकर। मुसि मुसि—सदा ठग-ठगकर। लावै हाटि—दुकान सजाती है। ना मुसै—नहीं ठगा जाता। जिनि—जिसने। बारह बाट—बारह टुकड़े, बारह भाग।

अर्थ : हे कबीर ! यह 'दुनियाँ', यह माया ठगणी है (जो लोग दीन बिसारकर सिर्फ़ 'दुनियाँ' के लिये भटक रहे हैं उनको) ठग-ठगकर यह माया अपनी दुकान (और और) सजाती है। हे कबीर ! सिर्फ़ वही मनुष्य इसकी ठगी से बचा रहता है जिसने इस माया के बारह टुकड़े कर दिये हैं (जिसने इसकी ठगी को तोड़कर रख दिया है)।२०।

कबीर सूखु न एंह जुगि, करहि जु बहुते मीत ।।
जो चितु राखहि एक सिउ, ते सुखु पावहि नीति ।।२१।।

पद अर्थ : एंह जुगि—इस मानव-जन्म में, यह मानव-जन्म पाकर। करहि जु—तू जो बना रहा है। बहुतै मीत—कई मित्र (कहीं पुत्र, कहीं स्त्री, कहीं धन, कहीं राज्य-भाग आदि)। एक सिउ—एक परमात्मा के साथ। राखहि—जोड़े रखते हैं। ते—वे मनुष्य।

अर्थ : हे कबीर ! ('दीन' बिसारकर, परमात्मा को भुलाकर तू यदि पुत्र, स्त्री, धन, जायदाद आदि) कई मित्र बना रहा है, इस मानव-जन्म में (इन मित्रों से) सुख नहीं मिलेगा। सिर्फ़ वे मनुष्य सदा सुख भोगते हैं जो ('दुनियाँ' में व्यवहार करते हुये भी) एक परमात्मा के साथ अपना मन जोड़े रखते हैं।२१।

कबीर जिसु मरने ते जगु डरै, मेरे मनि आनंदु ।।
मरने ही ते पाईऐ, पूरनु परमानंदु ।।२२।।

पद अर्थ : मरने ते—मरने से; पुत्र, स्त्री, धन आदि से मोह तोड़ने की मौत से, 'दुनियाँ' के मोह की तरफ़ से मरने से, 'दुनियाँ' के साथ मोह तोड़ने से। जगु डरै—जगत् डरता है, जगत् संकोच करता है। आनंदु—ख़ुशी। मरने ही ते—पुत्रादि, बहुत से मित्रों से मोह तोड़ने से ही। परमानंदु—वह परमात्मा जिसमें परम-आनन्द है, वह प्रभु जो ऊँची से ऊँची ख़ुशी का स्वामी है।

अर्थ : ('दुनियाँ' की ख़ातिर 'दीन' बिसारकर मनुष्य धन-पदार्थ, पुत्र, स्त्री आदि कई मित्र बनाता है तथा इनसे सुख की आशा करता है, इस आशा के कारण ही इनसे मोह नहीं तोड़ सकता, लेकिन) हे कबीर ! जिस

(मोह के त्याग-रूप) मौत से जगत् डरता है, (संकोच करता है) उससे मेरे मन में ख़ुशी पैदा होती है, 'दुनियाँ' के इस मोह की तरफ़ से मरने से ही वह परमात्मा मिलता है, जो पूर्ण-रूप से आनन्द-स्वरूप है।२२।

राम पदारथु पाइ कै, कबीरा गाँठि न खोल्ह ॥
नही पटणु नही पारखू, नही गाहकु नही मोलु ॥२३॥

पद अर्थ : पदारथु—सुन्दर वस्तु। पाइ कै—प्राप्त करके, यदि तुझे मिल गया है। पटणु—शहर। पारखू—परख करने वाला, कदर जानने वाला। गाहकु—ग्राहक, ख़रीदने वाला। मोलु—("मरने ही ते पाईऐ") 'दुनियाँ' से मोह की त्याग-रूप कीमत।

अर्थ : (जिधर देखो, 'दुनियाँ' की ख़ातिर ही दौड़-भाग है, सो) हे कबीर ! (अच्छे भाग्य से) यदि तूझे परमात्मा के नाम की अच्छी वस्तु मिल गई है तो यह गठड़ी औरों के आगे न खोलता फिर, (जगत् , 'दुनियाँ' में इतने मस्त हो कि नाम-पदार्थ को ख़रीदने के लिये) न कोई मंडी है, न कोई इस वस्तु की परख करने वाला है, न कोई यह वस्तु ख़रीदना चाहता है, तथा न कोई इतनी कीमत ही देने को तैयार है (कि 'दुनियाँ' से मोह तोड़ सके)।२३।

कबीर ता सिउ प्रीति करि, जा को ठाकुरु रामु ॥
पंडित राजे भूपती, आवहि कउने काम ॥२४॥

पद अर्थ : ता सिउ—उस (सतसंगी) के साथ। जा को—जिसका (सहारा, आश्रय)। ठाकुरु—पालक। भूपती—(भू—धरती, पति—स्वामी) ज़मीनों का स्वामी, राजा। कउने काम आवहि—किस काम आते हैं ? किसी काम नहीं आते, साथ नहीं निभाते।

अर्थ : हे कबीर ! उस (सतसंगी) के साथ साझेदारी बना जिसका (सहारा) वह परमात्मा है, जो सबका पालक है, ('राम पदार्थ' के व्यापारियों के साथ बनी हुई प्रीति अंत तक निभ सकती है, लेकिन जिनको विद्या, राज्य, भूमि आदि का अभिमान है, जो 'दुनियाँ' के व्यापारी हैं, वे) पंडित हों, चाहे राजा हों, चाहे बहुत भूमि के स्वामी हों, किसी काम नहीं आते।२४।

कबीर प्रीति इक सिउ कीए, आन दुबिधा जाइ ॥
भावै लांबे केस करु, भावै घररि मुडाइ ॥२५॥

नोट : श्लोक अंक १३ से उनका ज़िकर चला है जो 'दीन' को बिसारकर सिर्फ़ 'दुनी' का व्यापार कर रहे हैं; यह विषय श्लोक अंक ४० तक पहुँचता है। पिछले श्लोक में लिखते हैं कि जिन्होंने विद्या, राज्य, भूमि को ज़िन्दगी का सहारा बना लिया है, उनकी साझ-मित्रता भी विश्वसनीय नहीं होती, क्योंकि 'दुनी' वाला आसरा कच्चा है। मनुष्य के अन्दर दुविधा, सहम टिका रहता है। तथा अब कहते हैं कि इस 'दुविधा' को दूर करने का केवल एक ही तरीका है—'दुनी' के स्थान पर 'दीन' से प्यार, एक परमात्मा के साथ प्रीति। लंबी जटाओं वाले या रुण्ड-मुण्ड संन्यासी देखकर एक गृहस्थी के मन में यह ख़याल पैदा हो जाना स्वाभाविक बात है कि ये लोग तो 'दुनी' छोड़कर 'दीन' के रास्ते पर चल रहे हैं, इनके अन्दर तो दुविधा नहीं होगी। कबीर जी कहते हैं कि कोई भेख या बाहरी-त्याग 'दुनी' के मोह से बचा नहीं सकता। सिर्फ़ प्रभु-प्रीति ही कारगर नुस्ख़ा है।

पद अर्थ : आन—अन्य, 'दुनियाँ' वाली। दुबिधा—दुविधा। जाइ—दूर हो जाता है। भावै—चाहे। लांबे केस करु—(राख मल-मलकर) जटायें बढ़ा ले (तथा 'दुनियाँ' छोड़कर बाहर डेरा लगा ले)। घररि मुडाइ—सिर बिलकुल मुंडा का रुण्ड-मुण्ड साधु बनकर 'दुनियाँ' त्याग दे। कीए—यदि की जाये।

अर्थ : हे कबीर ! ('दुनियाँ' वाली) अन्य अन्य दुविधा तभी समाप्त होती है यदि एक परमात्मा के साथ प्यार किया जाये। (जब तक प्रभु के साथ प्रीति नहीं होती, 'दुनियाँ' वाली 'दुविधा' मिट नहीं सकती) चाहे (राख मलकर) लंबी जटायें रख ले, चाहे बिलकुल ही सिर रुण्ड-मुण्ड कर ले (तथा जंगलों या तीर्थों पर जाकर डेरा लगा ले)।२५।

नोट : पिछले श्लोक में बिलकुल दुनियादारों का ज़िकर है, यहाँ उनका ज़िकर है जो अपनी तरफ़ से 'दुनियाँ' त्याग गये हैं। कबीर जी के समय अभी 'ख़ालसा' जैसा कोई केशाधारी पंथ नहीं था, जिसकी कोई

आलोचना करने की कबीर जी को ज़रूरत पड़ती, यहाँ जटाधारियों का ही ज़िकर है।

कबीर जगु काजल की कोठरी, अंध परे तिसु माहि ।।
हउ बलिहारी तिन्ह कउ, पैसि जु नीकसि जाहि ।।२६।।

पद अर्थ : जगु—जगत्, 'दुनियाँ' का मोह। अंध—अंधे मनुष्य, वे मनुष्य जिनको 'दीन' की समझ नहीं, जिनकी आँखें नहीं खुलीं। तिसु माहि—उस कोठरी में (जहाँ 'दुनियाँ' के मोह की ही कालिख है)। काजल—कालिख। बलिहारी—कुर्बान। हउ—मैं। पैसि—पड़कर, गिरकर। नीकसि जाहि—निकल जाते हैं।

अर्थ : हे कबीर ! 'दुनियाँ' का मोह मानो एक ऐसी कोठड़ी है जो कालिख से भरी हुई है, इसमें वे लोग गिरे हुये हैं जिनकी आँखें बंद हैं (जिनको 'दीन' की समझ नहीं है, चाहे वे पंडित, राजा, भूपति हैं, चाहे जटाधारी, संन्यासी आदि त्यागी हैं)। लेकिन मैं उन पर कुर्बान हूँ जो इसमें गिरकर फिर निकल आते हैं (जो एक परमात्मा से प्रीति कर 'दुनी' के मोह को त्याग देते हैं)।२६।

नोट : पंडित हो, चाहे कोई राजा भूपति हो, विद्या या अनंत धन-पदार्थ 'दुनियाँ' के मोह की कालिख से भरी कोठड़ी में गिरने से बचा नहीं सकते। लेकिन यह भी भ्रम है कि जटाधारी या संन्यासी आदि साधु जो हम गृहस्थियों को त्यागी प्रतीत होते हैं, इस काजल की कोठड़ी में गिरने से बचे हुये हैं। यह ज़ाहरा त्याग (दिखावटी त्याग) बचाने-योग्य नहीं है। एक प्रभु-प्रीति ही साधन है।

कबीर इहु तनु जाइगा, सकहु त लेहु बहोरि ।।
नांगे पावहु ते गए, जिन्ह के लाख करोरि ।।२७।।

पद अर्थ : जाइगा—नष्ट हो जायेगा। सकहु—(जे बहोरि) सकहु, यदि नष्ट होने से रोक सकते हो। त—तो। लेहु बहोरि—रोक लो, बचा लो। ते—वे मनुष्य। नांगे पावहु—नंगे पाँव, कंगालों जैसे ही। जिन्ह के—जिनके पास।

अर्थ : हे कबीर ! यह सारा शरीर नष्ट हो जायेगा, यदि आप इसे नष्ट होने से बचा सकते हो तो बचा लो (अर्थात, कोई भी जीव अपने शरीर को नष्ट होने से नहीं बचा सकता, यह ज़रूर नष्ट होगा)। जिन लोगों के पास लाख करोड़ रुपये जमा थे वे भी यहाँ से नंगे पाँव ही (अर्थात, कंगालों जैसे ही) चले गए (सारी उम्र 'दुनियाँ' की ख़ातिर भटकते रहे, 'दीन' को बिसार दिया, आख़िर यह 'दुनियाँ' तो यहाँ ही रह गई, यहाँ से आत्मिक जीवन में केवल कंगाल होकर गये) ।२७।

कबीर इहु तनु जाइगा, कवनै मारगि लाइ ॥
कै संगति करि साध की, कै हरि के गुन गाइ ॥२८॥

पद अर्थ : कवनै मारगि—किस मार्ग पर, किसी उस कार्य में जो लाभदायक हो। कै—या।

अर्थ : हे कबीर ! यह शरीर नाश हो जाएगा, इसको किसी (उस) कार्य में जोड़ (जो तेरे लिये लाभदायक हो); सो साध-संगति कर तथा प्रभु की सिफ़ति-सालाह कर ('दुनी' तो यहाँ ही रह जाती है, 'दीन' ही साथी बनता है) ।२८।

नोट : यहाँ शब्द 'कै' से यह भाव नहीं कि मनुष्य ने साध-संगति तथा 'हरि गुन' में से एक चीज़ चुननी है। यहाँ भाव यह है—बस ! दो ही लाभदायक कार्य हैं, 'साध-संगति' या 'हरि गुन', तीसरा कोई नहीं। सो यहाँ 'या' से भाव 'तथा' का लेना है।

कबीर मरता मरता जगु मूआ, मरि भी न जानिआ कोइ ॥
ऐसे मरने जो मरै, बहुरि न मरना होइ ॥२९॥

नोट : "ऐसे मरने जो मरै"—कबीर जी ने यहाँ साफ़ शब्दों में यह नहीं बताया कि वे 'ऐसे मरने' से क्या भाव लेते हैं। वैसे श्लोक अंक २८ में वे बता आये हैं कि इस नाशवान शरीर को सफल करने के लिये "संगति करि साध की, हरि के गुन गाइ", शब्द 'ऐसे' बताता है कि इसका ज़िकर पहले श्लोक में किया जा चुका है। जब मनुष्य सिर्फ़ 'दुनियाँ' की ख़ातिर भटकता है तो इस माया को अपनी ज़िन्दगी का सहारा बना लेता

है; फिर हर समय सहम भी टिका रहता है कि कहीं राशि–पूँजी हाथ से चली न जाये या इस जोड़ी हुई को जल्दी ही छोड़ना न पड़ जाये, जल्दी ही मौत का नगाड़ा न आ बजे। सो केवल 'दुनियाँ' का ग्राहक मनुष्य इस तरह दिन में कई बार बे–मौत ही मरता रहता है, सहम से हर समय उसके प्राण संशय में पड़े रहते हैं। इस रोज़ाना मौत से बचने के लिये कबीर जी ने 'मार्ग' बताया है "संगति करि साध की, हरि के गुन गाइ"। उसी ख़याल को इस श्लोक में संकेत–मात्र ही कहते हैं, "ऐसे मरने जो मरै"।

इस "ऐसे मरने जो मरै" को गुरु अमरदास जी ने भी साफ़ शब्दों में समझा दिया है। देखें बिहागड़े की वार पउड़ी अंक १७:

सलोक ॥ कबीरा मरता मरता जगु मुआ, मरि भि न जानै कोइ ॥
ऐसी मरनी जो मरै, बहुरि न मरना होइ ॥१॥

कबीर जी के इस "ऐसी मरनी जो मरै" के भाव को समझाने के लिये गुरु अमरदास जी ऐसे लिखते हैं:

मः ३ ॥ किआ जाणा किव मरहगे, कैसा मरणा होइ ॥
जेकरि साहिबु मनहु न वीसरै, ता सहिला मरणा होइ ॥
मरणै ते जगतु डरै, जीविआ लोड़ै सभु कोइ ॥
गुर परसादी जीवतु मरै, हुकमै बूझै सोइ ॥
नानक ऐसी मरनी जो मरै, ता सद जीवणु होइ ॥२॥ (१७)

परमात्मा को मन से न बिसारना तथा उसकी रज़ा को समझना—यह है कबीर जी के गुप्त भाव की व्याख्या, जो सतिगुरु अमरदास जी ने की है, अंत में हजूर ने कबीर जी के शब्द को दोहराकर कह भी दिया है:

"नानक ऐसी मरनी जो मरै, ता सद जीवणु होइ ॥"

कबीर जी लिखते हैं "ऐसे मरने जो मरै", सतिगुरु जी लिखते हैं "नानक ऐसी मरनी जो मरै"। कबीर जी लिखते हैं "बहुरि न मरना होइ"; सतिगुरु जी इसी ख़याल को अन्य शब्दों में बदलकर लिखते हैं, "ता सद जीवणु होइ"।

ख़याल तथा शब्दों की यह साझ अचानक नहीं हो गई। गुरु अमरदास जी के पास कबीर जी का यह श्लोक हू-ब-हू मौजूद था। कबीर जी ने ख़याल को अस्पष्ट-सा रखा था, गुरु अमरदास जी ने उसको खुले शब्दों में स्पष्ट कर दिया। सो यह कहानी ग़लत है कि भक्तों की वाणी गुरु अर्जुन देव जी ने एकत्र की थी, यह तो पहले ही गुर-व्यक्तियों के पास मौजूद थी (पढ़ें, इस पुस्तक का प्रारंभिक विचार)।

पद अर्थ : मरता मरता—बार बार मरता, रोज़ रोज़ मरता, प्रतिदिन मौत के सहम से दबा हुआ। मरि न जानिआ—(मौत के सहम से) मरने की विधि न सीखी, मौत के सहम को समाप्त करने का तरीका न सीखा। जो ऐसे मरने मरै—जो इस तरह माया की तरफ़ से मरे (जैसा पिछले श्लोक अंक २८ में बताया है) जो साध-संगति में प्रभु की सिफ़ति-सालाह कर माया की तरफ़ से मरे। बहुरि—बार बार। बहुरि न मरना होइ—उसको बार बार मौत का सहम नहीं होता।

अर्थ : हे कबीर ! (सिर्फ़ 'दुनियाँ' का व्यापारी) जगत् हर समय मौत के सहम से दबा रहता है, (सिर्फ़ माया का व्यापारी) किसी को भी यह समझ नहीं आती कि मौत का यह सहम कैसे समाप्त किया जाये। (साध-संगति में प्रभु की सिफ़ति-सालाह कर) जो मनुष्य जीवित ही मरता है ('दुनियाँ' के मोह को तोड़ता है) उसको फिर यह सहम नहीं रहता।२९।

कबीर मानस जनमु दुलंभु है, होइ न बारै बार ॥
जिउ बन फल पाके भुइ गिरहि, बहुरि न लागहि डार ॥३०॥

पद अर्थ : मानस—मनुष्य का। बारै बार—बार बार। बन—जंगल। पाके—पके हुये। भुइ—ज़मीन पर। गिरहि—गिर पड़ते हैं। डार—डाली।

अर्थ : हे कबीर ! मानव-जन्म बड़ी मुश्किल से मिलता है (तथा, जो प्रभु का नाम बिसारकर सिर्फ़ 'दुनियाँ' में लगकर एक बार हाथों से गया तो) बार बार नहीं मिलता, जैसे जंगल (के वृक्षों) के पके हुये फल (जब) ज़मीन पर गिरते हैं तो फिर डाली पर नहीं लगते।३०।

नोट : जंगल के वृक्षों से गिरे हुये फल किसी के काम भी नहीं आते तथा फिर डाली के साथ भी नहीं लगते। इस तरह यदि 'दीन' को

'दुनी' की ख़ातिर गंवा दिया, माया की ख़ातिर परमात्मा की याद बिसार रखी, तो यह मिला हुआ जन्म भी व्यर्थ गया तथा बार बार भी नहीं मिलता।

कबीरा, तुही कबीरु तू, तेरो नाउ कबीरु ॥
राम रतनु तब पाईऐ, जउ पहिले तजहि सरीरु ॥३१॥

पद अर्थ : तुही तू—तू ही तू, सिर्फ़ तू। कबीरु—सबसे बड़ा। तजहि—यदि (हे कबीर !) तू छोड़ दे। सरीरु—शरीर का मोह, मौत का सहम।

अर्थ : (इस मानव-जन्म का असल मनोरथ 'परमात्मा के नाम की प्राप्ति' है, इसके लिये यह ज़रूरी है कि परमात्मा का सिमरन किया जाये, प्रभु के गुण गाये जायें, सो) हे कबीर ! (सदा यह कह—हे प्रभु !) तू ही सबसे बड़ा है, तेरा ही नाम सबसे बड़ा है। (लेकिन इस गुण-कीर्तन के साथ साथ, हे कबीर !) यदि तू पहले अपने शरीर का मोह भी त्याग दे, तभी परमात्मा का नाम-रूप रत्न मिलता है।३१।

कबीर झंखु न झंखीऐ, तुमरो कहिओ न होइ ॥
करम करीम जु करि रहे, मेटि न साकै कोइ ॥३२॥

नोट : पिछले श्लोक अंक ३१ में लिखे हुये "जउ पहिले तजहि सरीरु" की इस श्लोक में और व्याख्या की है। शरीर का मोह मनुष्य को 'दुनियाँ' की दौड़-भाग की ओर प्रेरित करता है, यदि मनुष्य की इच्छा के अनुसार माया एकत्र न हो तो यह गिले शिकवे करता है। प्रभु के गुण भी गाये तथा गिले शिकवे भी करता रहे—ये दो बातें नहीं जचतीं। इसको बंदगी नहीं कहा जाता। उस प्रभु के राज़क होने पर भी यकीन होना चाहिये।

पद अर्थ : झंखु—गिले शिकवे, कुढ़ कुढ़ करना। न होइ—नहीं हो सकता। करम—बख़्शश, कृपा। करीम—कृपा करने वाला, परमात्मा। मेटि न साकै—घटा बढ़ा नहीं सकता।

अर्थ : हे कबीर ! ('शरीर त्यागने' का भाव यह है कि 'दुनियाँ' की ख़ातिर) गिले शिकवे न करते रहो, ('दुनियाँ' के लालच में फंसा हुआ) जो कुछ तू कहता है वही नहीं हो सकता (गुण-कीर्तन करने के साथ

साथ यह भी यकीन रख कि) कृपा करने वाले प्रभु जी जो कृपा (जीवों पर) करते हैं, उनको कोई (अन्य जीव) बढ़ा घटा नहीं सकता।३२।

कबीर कसउटी राम की, झूठा टिकै न कोइ ॥
राम कसउटी सो सहै, जो मरि जीवा होइ ॥३३॥

पद अर्थ : कस—[Skt. कष् to test, rub on a touch-stone] परखना, पत्थर पर रगड़ना, जैसे सोना परखने के लिये घिसाया जाता है। वटी—[Skt. वट] बटी। कस-वटी—वह वटी जिस पर सोना रगड़कर परखा जाता है कि खरा है या खोटा। कसउटी—कस-वटी। कसउटी राम की—वह कसौटी जिसके द्वारा मनुष्य की प्रभु के साथ सच्ची प्रीति की परख की जा सके। झूठा—झूठ से प्रेम करने वाला, सिर्फ़ 'दुनियाँ' से मोह करने वाला, 'दीन' को 'दुनी' की ख़ातिर गंवा देने वाला। सहै—सहता है, पूरा उतरता है, खरा उतरता है। मरि जीवा—मर के जिया हुआ, जो 'दुनियाँ' की तरफ़ से मरकर 'दीन' की तरफ़ जिया है, जिसने शरीर का मोह ख़त्म कर दिया है। न टिकै—परख में खरा साबित नहीं होता, पूरा नहीं उतरता।

अर्थ : हे कबीर ! जो मनुष्य 'दुनियाँ' के साथ मोह करने वाला है, वह उस कसौटी पर खरा साबित नहीं होता, जिसके द्वारा मनुष्य की प्रभु के साथ सच्ची प्रीति परखी जाती है। प्रभु के साथ प्रीति की परख में वही मनुष्य पूरा उतरता है जो 'दुनियाँ' के मोह की तरफ़ से मरकर 'दीन' के प्यार में जीवित हो गया है।३३।

कबीर ऊजल पहिरहि कापरे, पान सुपारी खाहि ॥
एकस हरि के नाम बिनु, बाधे जमपुरि जांहि ॥३४॥

पद अर्थ : ऊजल—उज्जवल, साफ़, सफ़ेद, बड़िया। पहिरहि—पहनते हैं। कापरे—कपड़े। खाहि—खाते हैं। पान सुपारी खाहि—बांकेपन के लिये, सुन्दर लगने के लिये पान सुपारी खाते हैं। बाधे—बंधे हुये, शरीर को सजाये रखने के मोह में बंधे हुये। जमपुरि—यम के शहर में, यम के वश में, यम के दबाव में, मौत के सहम में। जांहि—जाते हैं, टिके रहते हैं।

अर्थ : हे कबीर ! (सिर्फ़ 'दुनियाँ' के व्यापारी अपने आप को सुन्दर दिखाने के लिये) बढ़िया वस्त्र पहनते हैं तथा पान सुपारियाँ खाते हैं; लेकिन (शरीर को सजाये रखने के मोह से) बंधे हुये वे लोग मौत आदि के सहम में टिके रहते हैं, क्योंकि वे परमात्मा के नाम से विहीन रहते हैं ('दीन' बिसारकर 'दुनी' का मोह हर हालत में दुःखदायी है) ।३४।

कबीर बेड़ा जरजरा, फूटे छेंक हजार ।।
हरूए हरूए तिरि गए, डूबे जिन सिर भार ।।३५।।

पद अर्थ : बेड़ा—जहाज़। जरजरा—जर्जर, बहुत पुराना। फूटे—फूटे हुये हों। छेंक हजार—हज़ारों छेक। हरूए हरूए—हल्के हल्के, जिन्होंने भार नहीं उठाया हुआ। तिरि गए—तर जाते हैं।

अर्थ : हे कबीर ! यदि एक बहुत ही पुराना जहाज़ हो, जिसमें हज़ारों ही छेक पड़े हों (वह आख़िर समुद्र में डूब ही जाता है, इस जहाज़ के मुसाफ़िरों में से) सिर्फ़ वही लोग तैरकर पार निकल जाते हैं जिन्होंने कोई भार नहीं उठाया हुआ होता, लेकिन जिनके सिर पर भार होता है वे (भार के नीचे दबकर) डूब जाते हैं ।३५।

नोट : इंसानी ज़िन्दगी मानो एक नाव है। जीव कई योनियों में से निकलता तथा अनन्त अच्छे बुरे कर्म करता चला आ रहा है। इसकी ज़िन्दगी की पुरानी हो चुकी बेड़ी में किये कर्मों के संस्कार मानो, छेक हो गये हैं। जैसे नाव के छेकों के द्वारा बाहर से समुद्र का पानी पड़कर नाव को डुबो देता है वैसे ही पिछले बुरे संस्कार इंसान के अन्दर और और मंदी वासनाएं पैदा करते हैं। इस तरह इंसानी जीवन की नाव विकारों की लहरों में डूब जाती है। जिन्होंने विकारों का, 'दुनियाँ' के मोह का भार नहीं बँधा, वे साफ़ सुथरा जीवन गुज़ार जाते हैं।

कबीर हाड जरे जिउ लाकरी, केस जरे जिउ घासु ।।
इहु जगु जरता देखि कै, भइओ कबीरु उदासु ।।३६।।

पद अर्थ : उदासु—उदास (हड्डियाँ, केश आदि के बने शरीर के मोह से) उपराम, निर्मोह।

अर्थ : ('दीन' को बिसारकर सिर्फ़ 'दुनियाँ' की ख़ातिर दौड़-भाग करता हुआ मनुष्य अपने शरीर के मोह में इतना फंसता है कि हर समय मौत से सहमा रहता है। फिर भी यह शरीर सदा कायम नहीं रह सकता, मौत आ ही जाती है, तब) हे कबीर ! (शरीर को चिता पर रखने से) हड्डियाँ लकड़ी जैसे जलती हैं, केश घास जैसे जलते हैं। इस सारे संसार को ही जलते हुये देखकर (अर्थात, यह देखकर कि सब जीवों का इस शरीर से वियोग आख़िर ज़रूर होता है) मैं कबीर, इस शरीर के मोह से उपराम हो गया हूँ (मैंने शरीर का मोह छोड़ दिया है) ।३६।

कबीर गरबु न कीजीऐ, चाम लपेटे हाड ॥
हैवर ऊपरि छत्र तर, ते फुनि धरनी गाड ॥३७॥

पद अर्थ : गरबु—अहंकार, मान। हैवर—है+वर, हय-वर, चुने हुये बढ़िया घोड़े; हय—घोड़े; वर—श्रेष्ठ। छत्र—छत्र। तर—नीचे। ते फुनि—वे मनुष्य भी, ऐसे लोग भी। धरनी—मिट्टी, धरती। गाड—मिल जाते हैं।

अर्थ : हे कबीर ! (इस शरीर की जवानी, सुन्दरता आदि का) अभिमान नहीं करना चाहिये, (आख़िर है तो यह) हड्डियों (की मूठ), जो चमड़ी से लिपटी हुई हैं। (इस शरीर का अभिमान करने वाले) वे लोग भी (अंत को) मिट्टी में जा मिले, जो बढ़िया घोड़ों पर (सवार होते थे) तथा जो (झूलते) छत्रों के नीचे (बैठते) थे।३७।

कबीर गरबु न कीजीऐ, ऊचा देखि अवासु ॥
आजु कालि भुइ लेटणा, ऊपरि जामै घासु ॥३८॥

पद अर्थ : देखि—देखकर। अवासु—महल। आजु कालि—आज कल। भुइ—भूमि पर। जामै—पैदा हो जाता है।

अर्थ : हे कबीर ! अपना ऊँचा महल देखकर (भी) अहंकार नहीं करना चाहिये (यह भी चार दिन का ही खेल है; मौत आने पर महल को छोड़कर) आज कल ही मिट्टी में मिल जाना है, हमारे (शरीर) पर घास उग पड़ेगा।३८।

कबीर गरबु न कीजीऐ, रंकु न हसीऐ कोइ ॥
अजहु सु नाउ समुंद्र महि, किआ जानउ किआ होइ ॥३९॥

पद अर्थ : रंकु—कंगाल मनुष्य। नाउ—नाव, ज़िन्दगी की नाव। किआ जानउ—मैं क्या जानता हूँ। न हसीऐ—मज़ाक न करो।

अर्थ : हे कबीर ! (यदि तू धनवान् है, तो इस धन-पदार्थ का भी) अभिमान न कर, ना ही किसी कंगाल का (उसे देखकर) उपहास कर। (तेरी अपनी जीवन-) नौका अभी समुद्र में है, पता नहीं क्या हो जाये (यह धन-पदार्थ हाथ से जाते देर नहीं लगती) ।३९।

कबीर गरबु न कीजीऐ, देही देखि सुरंग ॥
आजु कालि तजि जाहुगे, जिउ कांचुरी भुयंग ॥४०॥

पद अर्थ : देही—शरीर, काया। सुरंग—सुन्दर रंग वाली। आजु कालि—आज-कल, थोड़े ही समय में। कांचुरी—केंचुली। भुयंग—साँप।

अर्थ : हे कबीर ! इस सुन्दर रंग वाले शरीर को देखकर भी अहंकार न कर, यह शरीर भी थोड़े दिनों में ही छोड़ जाओगे, जैसे साँप केंचुली उतार देता है (प्राण तथा शरीर का भी पक्का सदा-निभने वाला साथ नहीं है) ।४०।

श्लोक अंक ४१ से ७० तक :

कबीर लूटना है त लूटि लै, राम नाम है लूटि ॥
फिरि पाछै पछुताहुगे, प्रान जाहिंगे छूटि ॥४१॥

पद अर्थ : लूटना है—यदि दबा-दब इकट्ठा करना है। त—तो। लूटि लै—लूट ले, एकत्र कर ले। राम नाम है लूटि—परमात्मा के नाम की लूट पड़ी हुई है, परमात्मा का नाम बाँटा जा रहा है। फिरि—फिर, समय निकल जाने पर।

अर्थ : हे कबीर ! ('दुनियाँ' की ख़ातिर क्यों भटक रहा है ? देख) परमात्मा का नाम दबा-दब बाँटा जा रहा है, यदि इकट्ठा करना है तो

यह नाम-धन एकत्र कर। जब प्राण (शरीर में से) निकल गये, समय निकल जाने पर अफ़सोस करना पड़ेगा।४१।

कबीर ऐसा कोई न जनमिओ, अपनै घर लावै आगि ।।
पांचउ लरिका जारि कै, रहै राम लिव लागि ।।४२।।

पद अर्थ : कोई न जनमिओ—कोई विरला ही होता है। अपनै... आगि—जो अपने घर को आग लगाये, जो अपनत्व को जलाये। पांचउ लरिका—पाँचों लड़के, माया के पाँच पुत्र काम आदि। जारि कै—जलाकर। लागि रहै—लगाये रखे। लिव—ध्यान।

अर्थ : (पर नाम-धन एकत्र करने के लिये ज़रूरी है कि मनुष्य अपनत्व को पहले समाप्त करे, तथा) हे कबीर ! (संसार में) ऐसा कोई विरला ही मिलता है जो अपने शारीरिक मोह को जलाता है तथा कामादि माया के पाँचों पुत्रों को जलाकर परमात्मा (की याद) में ध्यान लगाये रखता है।४२।

को है लरिका बेचई, लरिकी बेचै कोइ ।।
साझा करै कबीर सिउ, हरि संगि बनजु करेइ ।।४३।।

नोट : पिछले श्लोक के शब्द 'पांचउ लरिका' में 'लरिका' बहु-वचन है, यही शब्द इस श्लोक में भी उस पहले भाव में ही प्रयुक्त हुआ है। इसी तरह शब्द 'लरिकी' भी बहु-वचन है।

पद अर्थ : लरिका—'पांचउ लरिका' कामादि माया के पाँचों पुत्र। लरिकी—लड़कियाँ, आशा, तृष्णा, ईर्ष्या आदि माया की पुत्रियाँ। बेचै—नाम-धन के बदले में दे दे, नाम-धन ख़रीदने के लिये ये कामादि तथा आशा, तृष्णा आदि दे दे। को है—कोई विरला ही होता है। बेचई—बेचे, बेचता है। साझा—साझ, सतसंग की साझ, नाम-धन के व्यापार की साझ। कबीर सिउ—कबीर के साथ, कबीर चाहता है कि मेरे साथ! हरि संगि बनजु—'लरिका लरिकी' हरि को देकर हरि के नाम का व्यापार। बनजु—सौदा, लेन-देन, व्यापार।

अर्थ : कोई विरला ही होता है जो परमात्मा के साथ (उसके नाम

का) व्यापार करता है, जो (नाम-धन ख़रीदने के लिये कामादि माया के पाँच) पुत्र तथा (आशा, तृष्णा, ईर्ष्या आदि) लड़कियाँ बदले में देता है, कबीर चाहता है कि ऐसा मनुष्य (इस व्यापार में) मेरे साथ भी सतसंग की साझ बनाये।४३।

कबीर इह चेतावनी, मत सहसा रहि जाइ॥
पाछै भोग जु भोगवे, तिन को गुड़ु लै खाहि॥४४॥

पद अर्थ : चेतावनी—याद करवाना। मत—मत। सहसा—भ्रम। पाछै—अब तक के जीवन में। भोग जु—जो भोग। पाछै भोग जु भोगवे—जो भोग अब तक भोगे हैं। तिन को—उन भोगों के बदले में। तिन को गुड़ु लै खाहि—(उन भोगों की कीमत बस इतनी ही है कि) उनके बदले में थोड़ा-सा गुड़ लेकर खा ले, उनके बदले में थोड़ा-सा गुड़ ही मिल सकता है (जैसे कोई ग्राहक दुकान से सौदा लेता है तथा बाद में थोड़ा-सा गुड़ मांग लेता है)।

अर्थ : हे कबीर! मैं तुझे याद करवाता हूँ, यह न हो कि फिर भ्रम रह जाये (फिर भ्रम न रह जाये), जो भोग अब तक तूने भोगे हैं (यह मत समझ कि तूने बड़ी मौज कर ली है, असल में) इनका महत्त्व इतना ही है (जैसे किसी दुकान से सौदा लेकर ऊपर से) थोड़ा-सा गुड़ लेकर खा ले।४४।

कबीर मै जानिओ पड़िबो भलो, पड़िबे सिउ भल जोगु॥
भगति न छाडउ राम की, भावै निंदउ लोगु॥४५॥

पद अर्थ : जानिओ—जाना, समझा था। पड़िबो भलो—पढ़ना अच्छा है, मानव-जीवन का सबसे अच्छा काम विद्या पढ़नी है। पड़िबे सिउ—पढ़ने से। जोगु—प्रभु-चरणों में जुड़ना। निंदउ—बेशक निंदा करे, बुरा कहे।

अर्थ : हे कबीर ! (यहाँ काशी में उच्च-जाति वालों को वेद-शास्त्र आदि पढ़ते देखकर) मैंने समझा था कि विद्या पढ़नी मानव-जन्म का सबसे अच्छा कार्य होगा, लेकिन (इन लोगों के वाद-विवाद देखकर मुझे यकीन हो गया है कि ऐसी विद्या) पढ़ने से प्रभु-चरणों में जुड़ना (मनुष्य के

लिये) भला है। (सो, इसके लिये) जगत् बेशक मेरी निंदा करे, (मुझे बुरा कहता रहे) मैं (विद्या की तुलना में भी) परमात्मा की भक्ति नहीं छोड़ूँगा ।४५।

नोट : पिछले श्लोकों में दुनियाँ के भोग-पदार्थों से 'नाम' को अच्छा कहा है, इस श्लोक में विद्या की तुलना में भी नाम का महत्त्व बताया है।

कबीर लोगु कि निंदै बपुड़ा, जिह मनि नाही गिआनु ।।
राम कबीरा रवि रहे, अवर तजे सभ काम ।।४६।।

पद अर्थ : कि निंदै—क्या निंदा कर सकता है ? (उसके) बताये अवगुणों को कौन ठीक मानेगा ? बपुड़ा—बेचारा, मूर्ख। जिह मनि—जिसके मन में। गिआनु—समझ, ज्ञान, अच्छे बुरे की पहचान। रवि रहे—सिमर रहा है। तजे—छोड़कर।

नोट : किसी मनुष्य के अच्छे तथा बुरे पहलू को सही तरीके से वही मनुष्य परख सकता है, जिसको दोनों तरफ़ की पहले आप पूरी समझ हो। उसी मनुष्य की, की हुई आलोचना का क्या कोई महत्त्व हो सकता है। कबीर जी श्लोक अंक ४५ में लिखते हैं कि यदि विद्या तथा भक्ति में से कोई एक चीज़ चुननी है, तो मैं भक्ति को पसंद करूँगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि लोग मेरे इस चुनाव पर उपहास करेंगे। इसके बारे में लोगों के हँसी-मज़ाक की परवाह तभी की जा सकती है यदि उन्हें विद्या तथा भक्ति दोनों की कोई समझ हो। परन्तु साधारणतः लोग बेचारे भक्ति की सार ही नहीं जानते, इसलिये यदि ये लोग मुझे मेरे चुनाव पर बुरा कहते हैं तो इनकी आलोचना का कोई मूल्य नहीं है।

अर्थ : हे कबीर ! जिस मनुष्य के अन्दर (यह) सूझ नहीं है (कि विद्या की तुलना में प्रभु की भक्ति कितनी बड़ी देन है, वह मनुष्य जो मेरे इस चुनाव पर मुझे बुरा कहे) तो उस मनुष्य के द्वारा निंदा करने का कोई अर्थ नहीं है। सो, कबीर (ऐसे लोगों की इस दन्त-कथा की परवाह नहीं करता, तथा) परमात्मा का सिमरन कर रहा है तथा और सारे (कार्यों के मोह) का त्याग कर रहा है।४६।

कबीर परदेसी कै घाघरै, चहु दिसि लागी आगि ।।
खिंथा जलि कोइला भई, तागे आंच न लाग ।।४७।।

पद अर्थ : परदेसी—यह जीव जो इस जगत् में मुसाफ़िर की तरह चार दिन के लिये रहने आया है, जैसे कोई योगी किसी बस्ती में चार दिन के लिये आ टिकता है। घाघरा—[Skt. घर्घर, घरघरा a gate, a door] दरवाज़ा, (अर्थात, ज्ञानेन्द्रिय)। घाघरै—दरवाज़े को, ज्ञानेन्द्रियों को। चहु दिसि—चारों तरफ़ से, (अर्थात, प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियों को)। आगि—आग, विकारों की आग (आँखों को 'पर-दृष्टि विकार', कानों को 'पर-निंदा', रसना को 'मीठा स्वाद' इत्यादि)। खिंथा—गोदड़ी, इस परदेसी योगी की शरीर-रूप गोदड़ी। तागा—इस शरीर-गोदड़ी के टुकड़ों को जोड़कर रखने वाला धागा, जिंद-आत्मा। आंच—आंच, विकारों के आग की आंच (तपश, सेक)।

अर्थ : इस परदेसी-जीव की ज्ञानेन्द्रियों को चारों तरफ़ से विकारों की आग लगी हुई है (जो परदेसी योगी बेपरवाह होकर इस आग की गर्मी का अनुभव करता रहा, उसकी) शरीर-गोदड़ी (विकारों की आग में) जलकर कोयला हो गई, (लेकिन जिस परदेसी योगी ने इस गोदड़ी के धागे का, इस शरीर में बसते प्राणों का ख़याल रखा, तथा विकार-अग्नि की गर्मी का स्वाद अनुभव करने से संकोच किया, उसकी) आत्मा को (इन विकारों की आग की) आंच भी न लगी (अर्थात, वह इस जलती आग से बच गया)।४७।

कबीर खिंथा जलि कोइला भई, खापरु फूट मफूट ।।
जोगी बपुड़ा खेलिओ, आसनि रही बिभूति ।।४८।।

पद अर्थ : खापरु—खप्पर, जिसमें योगी घर घर से आटा मांगता है, वह मन जो दर दर पर भटकता है, वह मन जो वासनाओं में ख़ुआर होता रहता है। फूट मफूट—टुकड़े टुकड़े हो गया, असीम वासनाओं के पीछे दौड़-भाग करने लगा। बपुड़ा—बेचारा, मंदभागी, जिसने इस जन्म-फेरी में कुछ भी नहीं कमाया। खेलिओ—बाज़ी हार गया। आसनि—आसन पर। बिभूति—राख।

अर्थ : हे कबीर ! (विकारों की आग में पड़कर जिस बद-नसीब जीव-योगी की) शरीर-गोदड़ी जलकर कोयला हो गई, तथा (जिसका) मन-खप्पर दर दर पर वासना की भिक्षा ही इकट्ठी करता रहा, वह मंदभागी जीव-योगी मानव-जन्म की बाज़ी हारकर ही जाता है, उसके पल्ले परेशानी की राख ही रह जाती है ।४८।

कबीर थोरै जलि माछुली, झीवर मेलिओ जालु ॥
इह टोघनै न छूटसहि, फिरि करि समुंदु सम्हालि ॥४९॥

कबीर समुंदु न छोडीऐ, जउ अति खारो होइ ॥
पोखरि पोखरि ढूढते, भलो न कहि है कोइ ॥५०॥

पद अर्थ : थोरै जलि—थोड़े-से पानी में। थोरै जलि माछुली—थोड़े-से पानी में मछली।

नोट : पानी मछली के प्राणों का सहारा है, वैसे ही परमात्मा जीवात्मा का आसरा है। यदि मछली थोड़े-से पानी वाले छप्पर में रहने लग जाये तो झीवर आदि आसानी से आकर जाल लगाकर उसको पकड़ लेते हैं, वैसे ही यदि जीव धन, विद्या, सांसारिक भोग आदि को अपने जीवन का आसरा बना ले तो माया के 'पांचउ लरिका' आसानी से ही ग्रस लेते हैं। इह टोघनै—इस गड्ढे में, इस छप्पर में, इन अर्थ-हीन आसरों के अधीन रहने से। सम्हालि—संभाल, आसरा ले।४९।

जउ—यदि। खारो—नमकीन, बे-स्वाद। पोखर—[Skt. पुष्कर a lake, a pond] छप्पर। पोखरि—छप्पर में। पोखरि पोखरि ढूढते—छोटे छोटे छप्परों में (प्राणों का आश्रय) ढूँढ़ने से। कोइ न कहि है—कोई नहीं कहता।५०।

अर्थ : हे कबीर ! थोड़े-से पानी में मछली रहती हो तो झीवर आकर जाल डाल लेता है (वैसे ही यदि जीव सांसारिक भोग, विद्या, धन आदि को अपने जीवन का सहारा बना ले तो माया के 'पांचउ लरिका' आसानी से ग्रस लेते हैं)। हे मछली ! इस गड्ढे में रहकर तू झीवर के जाल से बच नहीं सकती, यदि बचना है तो समुद्र ढूँढ़ ले (हे जिंदे! इन भोग-

पदार्थों को आसरा बनाने से तू कामादि की मार से बच नहीं सकता, यह अर्थ-हीन आसरे छोड़कर परमात्मा को ढूँढ़।४९।

हे कबीर ! समुद्र न छोड़, चाहे (उसका पानी) बहुत ही खारा हो। छोटे-छोटे पोखरों में (प्राणों का आसरा) ढूँढ़ने से कोई नहीं कहता कि यह कार्य अच्छा है।५०।

नोट : दुनियाँ के भोग आनन्द-दायक प्रतीत होते हैं; धन, विद्या आदि का मान भी उमंगित कर देता है। प्रभु की याद इनके मुकाबले में बे-स्वाद चीज़ प्रतीत होती है, आपा त्यागना पड़ता है। लेकिन फिर भी प्रभु के नाम के सामने दुनियाँ वाले ये सारे आसरे ओछे हैं, इन पर निर्भर रहने से कामादि आ दबाते हैं, जीवन की राह छूट जाती है तथा अंत में धिक्कार ही मिलती है।

कबीर निगुसाएं बहि गए, थांघी नाही कोइ ॥
दीन गरीबी आपुनी, करते होइ सु होइ ॥५१॥

पद अर्थ : गुसाईं—गो+साईं, धरती का साईं, प्रभु। निगुसाएं—जिसका कोई स्वामी नहीं। नि-गुसाएं—ऐसे लोग जिनका कोई साईं नहीं, स्वामी नहीं। बहि गए—बह गये। थांघी—मल्लाह, गुरु-मल्लाह। दीन—दीनता, विनम्रता। आपुनी—(जिन्होंने) अपनी (बनायी)। करते होइ सु होइ—परमात्मा की तरफ़ से जो होता है सो (ठीक) होता है, उनको परमात्मा की रज़ा मीठी लगती है।

नोट : यह संसार, मानो एक समुद्र है, जिसमें विकारों की लहरे हैं। प्रत्येक प्राणी की ज़िन्दगी मानो एक छोटी-सी नाव है, जो इस समुद्र में से तैरकर पार जानी है। दरिया में से नाव तथा समुद्र में से जहाज़ तभी सही सलामत पार निकल सकते हैं यदि इनको चलाने वाले बुद्धिमान् मल्लाह हों। स्वामी-हीन तथा मल्लाह-हीन नाव लहरों से टकराकर ज़रूर डूब जाती है। इसी तरह जिन प्राणियों की ज़िन्दगी रूप नाव का कोई गुरु-मल्लाह नहीं होता, वे नाव विकारों की लहरों से टकराकर डूब जाती है। लेकिन जिन्होंने अपनी चतुराई छोड़कर विनम्रता से गुरु-मल्लाह का आश्रय खोजा है वे इन लहरों से नहीं डरते, उनको अपने गुरु पर विश्वास होता है कि वह पार करा देगा।

अर्थ : हे कबीर ! (यह संसार, मानो समुद्र है, जिसमें से जीवों की ज़िन्दगी की नौकाएं तैरकर निकल रही हैं, लेकिन) जो नौकाएं स्वामी-रहित होती है, जिन पर कोई गुरु-मल्लाह नहीं होता, वे डूब जाती हैं। जिन लोगों ने (अपनी बुद्धिमानी छोड़कर) विनम्रता तथा ग़रीबी धारणकर (गुरु-मल्लाह का आश्रय लिया है, वे संसार-समुद्र की लहरें देखकर) जो होता है, उसे परमात्मा की रज़ा जानकर बेफ़िकर रहते हैं (उनको अपनी नाव के डूबने की कोई चिंता नहीं होती) ।५१।

कबीर बैसनउ की कूकरि भली, साकत की बुरी माइ ।।
ओहु नित सुनै हरि नाम जसु, उह पाप बिसाहन जाइ ।।५२।।

पद अर्थ : बैसनउ—परमात्मा का भक्त। कूकरि—कुतिया (कूकर-कुत्ता)। साकत—परमात्मा से टूटा हुआ मनुष्य, मनमुख। माइ—माँ। बुरी—बुरी, मंदभागिनी। ओहु—(यह शब्द पुलिंग है, शब्द 'उह' स्त्री-लिंग है) वह भक्त। जसु—यश। बिसाहन—व्यापार करना।

अर्थ : हे कबीर ! (किसी) भक्त की कुतिया भी भाग्यशाली जान, लेकिन परमात्मा से टूटे हुये मनुष्य की माँ भी मंदभागिनी है क्योंकि वह भक्त सदा हरि-नाम का यश करता है, उसकी संगति में रहकर वह कुतिया भी सुनती है, (साकत नित्य पाप कमाता है, उसके कुसंग में) उसकी माँ भी पापों की भागीदार बनती है।५२।

कबीर हरना दूबला, इहु हरीआरा तालु ।।
लाख अहेरी एकु जीउ, केता बंचउ कालु ।।५३।।

पद अर्थ : दूबला—दुर्बल, कमज़ोर। हरना—जीव-हरन। इहु—यह जगत्। इहु तालु—यह संसार-रूप तालाब। हरीआरा—हरियाली से युक्त, हरा भरा, जिसमें मायिक भोगों की हरियाली है। अहेरी—शिकारी, अनंत विकार। एकु—अकेला। जीउ—जीव। केता कालु—कितना समय ? बहुत देर तक नहीं। बंचउ—मैं बच सकता हूँ।

अर्थ : हे कबीर ! यह जगत् एक ऐसा सरोवर है जिसमें अनंत मायिक भोगों की हरियाली है, मेरी यह जीव-रूप हिरण कमज़ोर है (इस हरियाली

की ओर जाने से रह नहीं सकता)। मेरी जिंद अकेली है, (इसको फंसाने के लिये मायिक भोग) लाखों शिकारी हैं (इनकी मार से अपने उद्यम से) मैं बहुत देर तक बच नहीं सकता।५३।

कबीर गंगा तीर जु घरु करहि, पीवहि निरमल नीरु ॥
बिनु हरि भगति न मुकति होइ, इउ कहि रमे कबीर ॥५४॥

पद अर्थ : तीर—किनारा। जु—यदि। करहि—तू बना ले। निरमल—पवित्र, साफ़। नीरु—पानी। मुकति—'लाख अहेरी' आदि विकारों से मुक्ति। इउ कहि—इस तरह कहकर। रमे—(प्रभु का नाम) सिमरता है।

अर्थ : हे कबीर ! यदि तू गंगा के किनारे पर (रहने के लिये) अपना घर बना ले, तथा (गंगा का) निर्मल पानी पीता रहे तो भी परमात्मा की भक्ति किये बिना ('लाख अहेरी' आदि विकारों से) तेरी मुक्ति नहीं हो सकती। कबीर तो यह बात बताकर परमात्मा का नाम ही सिमरता है।५४।

कबीर मनु निरमलु भइआ, जैसा गंगा नीरु ॥
पाछै लागो हरि फिरै, कहत कबीर कबीर ॥५५॥

अर्थ : हे कबीर ! (गंगा आदि तीर्थों के साफ़ जल के किनारे निवास करने से न तो कामादि विकारों से मुक्ति मिलती है तथा न ही मन पवित्र हो सकता है, लेकिन) जब (परमात्मा के नाम का सिमरन करने से) मेरा मन गंगा के निर्मल पानी जैसा पवित्र हो गया तो परमात्मा मुझे कबीर कबीर कहकर (आवाज़ें मारता हुआ) मेरे पीछे लगा फिरेगा।५५।

नोट : श्लोक अंक ५४ तथा ५५ में मिला-जुला ख़याल है कि तीर्थों पर निवास रखने से मन विकारों से नहीं बचता, सिमरन से ही पवित्र होता है, तथा इतना पवित्र हो जाता है कि परमात्मा आप मनुष्य के अन्दर आ प्रकट होता है।

कबीर हरदी पीअरी, चूंनां ऊजल भाइ ॥
राम सनेही तउ मिलै, दोनउ बरन गवाइ ॥५६॥

कबीर हरदी पीरतनु हरै, चून चिहनु न रहाइ ।।
बलिहारी इह प्रीति कउ, जिह जाति बरनु कुलु जाइ ।।५७।।

पद अर्थ : हरदी—हल्दी। पीअरी—पीली, पीले रंग की। ऊजल भाइ—सफ़ेद रंग। सनेही—स्नेह वाला। तउ—तब। दोनउ बरन—दोनों उच्च तथा निम्न-जाति (का भेद भाव) ।५६।

पीरतनु—पीला रंग। हरै—दूर कर देती है। चून चिहनु—चूने का चिन्ह, चूने का सफ़ेद रंग। न रहाइ—नहीं रहता। बलिहारी—कुर्बान। जिह—जिस प्रीति की बरकत से।५७।

अर्थ : हे कबीर ! हल्दी पीले रंग की होती है, चूना सफ़ेद होता है (लेकिन जब ये दोनों मिलते हैं तो दोनों का रंग दूर हो जाता है, तथा लाल रंग पैदा हो जाता है, इसी तरह) परमात्मा से प्रेम करने वाले मनुष्य का प्रभु से मिलाप तब हुआ समझो जब मनुष्य ऊँची तथा निम्न दोनों जातियों का भेदभाव मिटा देता है, (तथा उसके अन्दर सब जीवों में एक प्रभु की ज्योति ही देखने की सूझ पैदा हो जाती है।५६।

हे कबीर ! (जब हल्दी तथा चूना मिलते हैं तो) हल्दी अपना पीला रंग छोड़ देती है, चूने का सफ़ेद रंग दूर हो जाता है (इसी तरह सिमरन के प्रभाव से निम्न-जाति वाले मनुष्य के अन्दर से निम्न-जाति वाली हीनभावना मिट जाती है तथा उच्च-जाति वाले के मन में से उच्चता का अभिमान दूर हो जाता है)। मैं कुर्बान हूँ इस प्रभु-प्रीति से, जिसके प्रभाव से उच्च-निम्न-जाति, वर्ण-कुल (का भेद) मिट जाता है।५७।

नोट : जैसे गंगा आदि तीर्थों का स्नान 'पांचउ लरिका' तथा 'लाख अहेरी' की मार से नहीं बचा सकता, वैसे ही उच्च-जाति में जन्म लेना भी कोई सहायता नहीं करता।

कबीर मुकति दुआरा संकुरा, राई दसएं भाइ ।।
मनु तउ मैगलु होइ रहिओ, निकसो किउ कै जाइ ।।५८।।

कबीर ऐसा सतिगुरु जे मिलै, तुठा करे पसाउ ।।
मुकति दुआरा मोकला, सहजे आवउ जाउ ।।५९।।

पद अर्थ : मुकति दुआरा—वह दरवाज़ा जिसमें से निकलकर 'लाख अहेरी' तथा 'पांचउ लरिका' से मुक्ति हो सकती है। संकुरा—संकीर्ण, छोटा। दसएं भाइ—दसवां हिस्सा। मैगलु—[Skt. मदकल] मस्त हाथी, तीर्थ-स्नान तथा ऊँची-जाति में जन्म के अहंकार के कारण हाथी के समान मदमस्त हुआ। किउ कै—क्यों कर ? कैसे ? किस तरह ? (अर्थात, नहीं) निकसो जाइ—निकला जाये।५८।

तुठा—प्रसंन होकर। पसाउ—प्रसाद, कृपा। मोकला—खुला। सहजे—सहज में, अडोल अवस्था में टिककर, 'पांचउ लरिका' तथा 'लाख अहेरी' की घबराहट से दूर रहकर। आवउ जाउ—बेशक आते जाते रहो, बेशक किरत-कार करते रहो।५९।

अर्थ : हे कबीर ! वह दरवाज़ा जिसमें से निकलकर 'लाख अहेरी' तथा 'पांचउ लरिका' से मुक्ति होती है बहुत तंग है, राई के दाने का भी दसवां हिस्सा समझो, लेकिन जिस मनुष्य का मन तीर्थ-स्नान तथा ऊँची-जाति में जन्म लेने के अहंकार से मस्त हाथी जैसा बना पड़ा है वह इस दरवाज़े में से नहीं निकल सकता।५८।

हे कबीर ! यदि कोई ऐसा गुरु मिल जाये जो प्रसंन होकर (मनुष्य पर) कृपा करे तो वह दरवाज़ा जिसके द्वारा इन कामादि से मुक्ति हो सकती है, विस्तृत हो जाता है, (गुरु-दर से मिली) अडोल अवस्था में टिककर फिर बेशक काम-धंधा करते रहो।

नोट : कबीर जी के इन श्लोकों के साथ मिलाकर गुरु अमरदास जी का निम्नलिखित श्लोक पढ़ें, जो राग गूजरी की वार मः ३ की पउड़ी अंक ४ के साथ दर्ज है :

नानक मुकति दुआरा अति नीका, नान्हा होइ सु जाइ ॥
हउमै मनु असथूलु है, किउकरि विचुदे जाइ ॥
सतिगुर मिलिऐ हउमै गई, जोति रही सभ आइ ॥
इहु जीउ सदा मुकतु है, सहजे रहिआ समाइ ॥२॥ (४)

गुरु अमरदास जी ने कबीर जी के शब्द 'मैगलु' की व्याख्या कर

दी है, "हउमै मनु असथूलु"। 'तुठा' गुरु क्या 'पसाउ' करता है ? "सतिगुर मिलिऐ हउमै गई"।

एक बात प्रत्यक्ष है कि जब गुरु अमरदास जी ने यह श्लोक लिखा था, कबीर जी के ये दोनों श्लोक उन्हों के पास मौजूद थे। यह कहानी ग़लत है कि भक्तों की वाणी गुरु अर्जुन साहिब ने एकत्र की थी।

कबीर ना मोहि छानि न छापरी, ना मोहि घरु नही गाउ ॥
मत हरि पूछै कउनु है, मेरे जाति न नाउ ॥६०॥

कबीर मुहि मरने का चाउ है, मरउ त हरि कै दुआर ॥
मत हरि पूछै कउनु है, परा हमारै बार ॥६१॥

नोट : जैसे तीर्थ-स्नान तथा ऊँची-जाति कुल का आश्रय सिमरन नहीं करने देते, बल्कि 'लाख अहेरी' तथा 'पांचउ लरिका' के जाल में फँसा देते हैं, वैसे ही जायदाद का स्वामित्व, माया की ममता भी प्रभु-चरणों में जुड़ने नहीं देती।

पद अर्थ : मोहि—(असल शब्द 'मोहि' है, यहाँ 'मुहि' पढ़ना है, पाठ की चाल को ठीक रखने के लिये एक मात्रा घटानी है) मेरे पास। छानि—छन्ना। छापरी—छप्परी। गाउ—गाँव। मत—शायद। मेरे—मेरे पास। नाउ—नाम, स्वामित्व का बड़प्पन।६०।

मुहि—मुझे। मरने का—आपा-भाव मिटाने का, अच्छे कर्म, ऊँची-जाति तथा स्वामित्व के अभिमान की तरफ़ से मरने का। चाउ—चाव। मरउ—यदि मैं यह मृत्यु मरना चाहता हूँ। त—तब। बार—दरवाज़े पर।६१।

अर्थ : हे कबीर ! मेरे पास न कोई छन्ना न छप्परी, न मेरे पास कोई घर न गाँव, जैसे मेरे मन में जाति का कोई भेद-भाव नहीं वैसे स्वामित्व के बड़प्पन की कोई चाह नहीं (यदि जाति-अभिमान तथा माया की ममता छोड़ दे तो) शायद परमात्मा (हमारी) बात पूछ ले।६०।

हे कबीर ! मेरे अन्दर चाव है कि मैं आपा-भाव मिटा दूँ, ममता समाप्त कर दूँ, लेकिन यह आपा-भाव तभी मिट सकता है यदि प्रभु के दर पर गिर पड़ें। (इस तरह कोई अजीब बात नहीं कि कृपा कर, वह

कृपालु) प्रभु कभी पूछ ही बैठे कि मेरे दरवाज़े पर कौन गिरा पड़ा है।६१।

नोट : ममता का त्याग करना है लेकिन यह त्यागकर भी प्रभु के दर से कृपा की आशा रखनी है, ममता के त्याग से कोई हक्क नहीं बन जाता कि अब ज़रूर मिल जायेगा।

कबीर ना हम कीआ न करहिगे, ना करि सकै सरीरु ।।
किआ जानउ किछु हरि कीआ, भइओ कबीरु कबीरु ।।६२।।

नोट : पिछले श्लोक में आये "मत हरि पूछै कउनु है" के ख़याल को फिर दोहराया है कि प्रभु के चरणों का प्यार केवल प्रभु की अपनी दाति है, जिस पर कृपा करे, उसको मिलती है। जगत् में 'लाख अहेरी' हैं, मनुष्य अपनी हिम्मत से इनसे बच नहीं सकता, प्रभु स्वयं सहायता करे तभी इनके पंजे से निकल सकता है।

पद अर्थ : ना हम कीआ—मैंने यह काम नहीं किया, यह मेरी हिम्मत नहीं थी कि कामादि 'लाख अहेरी' की मार से बचकर मैं प्रभु चरणों में जुड़ सकता। न करहिगे—आगे भी मेरे में यह ताकत नहीं आ सकती कि मैं इन विकारों का मुकाबला स्वयं कर सकूँ। ना करि सकै सरीरु—मेरा यह शरीर भी अपने आप इतनी हिम्मत करने योग्य नहीं, क्योंकि इसकी ज्ञानेन्द्रियाँ विकारों की तरफ़ ही प्रेरित कर रही हैं। किआ जानउ—क्या पता ? कोई अजीब बात नहीं कि असल बात यही होगी कि। किछु—जो कुछ किया है, कामादि को जीतकर जो भी भक्ति की है। कबीरु—बड़ा।

अर्थ : हे कबीर ! यह मेरी हिम्मत नहीं थी कि कामादि 'लाख अहेरी' की मार से बचकर मैं प्रभु चरणों में जुड़ सकता; आगे भी मेरे में यह ताकत नहीं आ सकती कि मैं स्वयं इन विकारों का मुकाबला करूँ, मेरा यह शरीर इस योग्य है ही नहीं। असल बात यह है कि कामादि को जीतकर जो थोड़ी-बहुत भक्ति मुझसे हुई है, यह सब कुछ प्रभु ने स्वयं किया है तथा (उसकी कृपा से) कबीर (भक्त) मशहूर हो गया है।६२।

नोट : इस श्लोक के साथ यज्ञ आदि की कच्ची कहानी जोड़कर अपनी समझ को हास्यास्पद बनाने वाली बात है।

कबीर सुपनै हू बरड़ाइ कै, जिह मुखि निकसै रामु ॥
ता के पग की पानही, मेरे तन को चामु ॥६३॥

पद अर्थ : सुपनै हू—सपने में। बरड़ाइ कै—सोये हुये होने पर, सपना आने पर कई बार बातें करने लग जाते हैं, इसको बड़बड़ाना कहा जाता है। जिह मुखि—जिस मनुष्य के मुँह से। निकसै—निकले। पग—पैर। पानही—[Skt. उपानह] जूता। चामु—चमड़ी।

अर्थ : हे कबीर ! सोये हुये होने पर सपने में ऊँचा बोलने से यदि किसी मनुष्य के मुँह से परमात्मा का नाम निकले तो उसके पैरों के जूतों के लिये मेरे शरीर की चमड़ी हाज़र है (अर्थात, मैं हर तरह से उसकी सेवा करने के लिये तैयार हूँ) ।६३।

नोट : जो काम सारा दिन किया जाये, जिस ओर सारा दिन ध्यान लगा रहे, रात को सोये हुये होने पर भी साधारणतः ध्यान उधर ही जाता है तथा उन्हीं कामों के सपने आते हैं। वार्षिक परिक्षाओं के दिनों में जब विद्यार्थी पढ़ने में दिन रात एक कर देते हैं तो सोये हुये भी वही विषय, वही किताबें पढ़ते रहते हैं।

इसी तरह दिन में काम-धंधा करते हुये जिस मनुष्य का ध्यान प्रभु की याद में लगा रहता है उसको ही सपने में भी परमात्मा याद आ सकता है।

कबीर जी इस श्लोक में अपने स्वाभाविक रहस्यमयी ढंग से कहते हैं कि दिन के समय काम-धंधा करते हुये ध्यान प्रभु-चरणों में जोड़ो, रात को सोये हुये होने पर अपने आप ध्यान प्रभु में जुड़ा रहेगा तथा इस तरह उठते-बैठते, जागते-सोये हुये, हर समय प्रभु-चरणों में जुड़ने की आदत बन जायेगी ।६३।

कबीर माटी के हम पूतरे, मानसु राखिओ नाउ ॥
चारि दिवस के पाहुने, बड बड रूंधहि ठाउ ॥६४॥

पद अर्थ : पूतरे—पुतले। राखिओ—(अक्षर 'उ' के साथ दो मात्राएं हैं (ो) तथा (ु)। शुद्ध शब्द 'राखिओ' है। यहाँ पाठ की चाल को ठीक

रखने के लिए 'राखिउ' पड़ना है) रखा। पाहुने—मेहमान। रूंधहि—रोकते हैं, अपने स्वामित्व में लेते हैं। ठाउ—स्थान। बड बड—अधिक, और और। मानसु—मनुष्य।

अर्थ : हे कबीर ! हम मिट्टी के पुतले हैं, हमने अपना नाम मनुष्य रख लिया है (लेकिन रहे हम मिट्टी के ही पुतले, क्योंकि जिस परमात्मा ने हमारा यह पुतला बनाकर इसमें अपनी ज्योति डाली है, उसको भुला-कर मिट्टी के साथ ही प्यार कर रहे हैं)। यहाँ हम चार दिन के मेहमान हैं, लेकिन अधिक से अधिक स्थान रोकते जा रहे हैं (अर्थात, अधिक से अधिक स्थान को अपना बनाये जा रहे हैं) ।६४।

नोट : जो ध्यान सारा दिन कुछ न कुछ प्राप्त करने के अहसास में ही लगा रहे, वह रात को सोये होने पर प्रभु-चरणों में नहीं लग सकता।

कबीर महिदी करि घालिआ, आपु पीसाइ पीसाइ ॥
तै सह बात न पूछीऐ, कबहु न लाई पाइ ॥६५॥

नोट : ज़िन्दगी की सारी दौड़-भाग उपलब्धियों के लिये ही नहीं होनी चाहिए, लेकिन दूसरी तरफ़, दुनियाँ छोड़कर धूणियाँ तपाने से, उलटे लटकने से तथा ऐसे अन्य अनेक कष्ट शरीर को देने से भी परमात्मा नहीं मिलता। दुनियाँ के काम धंधे करने हैं तथा हक्क की कमाई करते हुये उसके दर से नाम की 'दाति' भी मांगनी है। उसकी याद केवल उसकी कृपा है कृपा। किसी जप तप का कोई मान नहीं किया जा सकता, कोई हक्क नहीं जताया जा सकता।

पद अर्थ : महिदी करि—महिंदी जैसे। घालिआ—मेहनत की। आपु—अपने आप को। पीसाइ पीसाइ—पीस-पीसकर, तप आदि के कष्ट दे देकर। सह—हे पति ! तै बात न पूछीऐ—तूने बात भी न पूछी, तूने ध्यान ही न दिया, तूने पलटकर देखा भी नहीं। कबहु—कभी भी। न लाई पाइ—पैरों पर न लगाई, चरणों में न जुड़ा (जैसे पीसी हुई महिंदी कोई पैरों पर लगाता है)।

अर्थ : हे कबीर ! (महिंदी को पीस-पीसकर बारीक किया जाता है, फिर पैरों पर लगाया जाता है, इस तरह महिंदी के सहे हुये कष्ट मानो

कबूल हो जाते हैं, लेकिन) जिस मनुष्य ने अपने आप को तप आदि के कष्ट दे-देकर बड़ी मेहनत की (तपस्या की), जैसे महिंदी को पीस-पीसकर बारीक किया जाता है, हे प्रभु ! तूने उसकी मेहनत की तरफ़ तो पलटकर देखा भी नहीं, तूने उसको कभी अपने चरणों में नहीं जोड़ा।६५।

नोट : रामकली की वार मः ३ की पउड़ी अंक २ के साथ कबीर जी का यह श्लोक दर्ज है तथा इसके साथ गुरु अमरदास जी का निम्न-लिखित श्लोक है :

मः ३ ।। नानक महिदी करि कै रखिआ, सो सहु नदरि करेइ ।।
आपे पीसै आपे घसै, आपे ही लाइ लएइ ।।
इहु पिरम पिआला खसम का, जै भावै तै देइ ।।२।।

दोनों श्लोकों को मिलाकर पढ़ें। यह श्लोक लिखते समय गुरु अमरदास जी के पास कबीर जी का श्लोक मौजूद था। सो, यह कहानी ग़लत है कि भक्तों की वाणी गुरु अर्जुन देव जी ने एकत्र की थी।

कबीर जिह दर आवत जातिअहु, हटकै नाही कोइ ।।
सो दरु कैसे छोडीऐ, जो दरु ऐसा होइ ।।६६।।

पद अर्थ : हटकै—रोकता है, टोकता है, ज़िन्दगी के सही रास्ते से रोकता है। आवत जातिअहु—आने जाने वाले को, जो सदा आता जाता रहे, सदा टिके रहने वाले को। कोइ—'लाख अहेरी' 'पांचउ लरिका' में से कोई भी। कैसे छोडीऐ—छोड़ना नहीं चाहिये। ऐसा—ऐसा। दरु—दरवाज़ा, प्रभु के चरण, प्रभु का आश्रय।

अर्थ : हे कबीर ! जो दरवाज़ा ऐसा है कि उस दर पर टिके रहने से ('लाख अहेरी' 'पांचउ लरिका' आदि में से) कोई भी (जीवन के सही राह में) रुकावट नहीं डाल सकता, वह दर कभी भी छोड़ना नहीं चाहिये।६६।

कबीर डूबा था पै उबरिओ, गुन की लहरि झबकि ।।
जब देखिओ बेड़ा जरजरा, तब उतरि परिओ हउ फरकि ।।६७।।

पद अर्थ : जरजरा—जर्जर, बहुत पुराना। डूबा था—डूब चला था। पै—पर। उबरिओ—निकल आया, डूबने से बच गया। झबकि—ज़ोर से। लहरि झबकि—लहरों के ज़ोर से, लहरों के धक्के से। गुन—प्रभु का गुण-कीर्तन। गुन.....झबकि—प्रभु के गुण-कीर्तन रूप लहरों के ज़ोर से (उत्साह से)। हउ—मैं। फरकि—तुरन्त, उछलकर, कूदकर।

अर्थ : हे कबीर ! (संसार समुद्र में) मैं डूब चला था, लेकिन प्रभु की सिफ़ति-सालाह (गुण-कीर्तन) की लहर के धक्के से (सांसारिक मोह की लहरों में से) मैं ऊपर उठा लिया गया। (पहले मोह में मस्त था, अब आँखें खुल गईं) उस समय मैंने देखा (कि जिस शारीरिक मोह की नाव में मैं सवार हूँ वह) नाव बहुत जर्जर है (विकारों के छिद्रों से भरी पड़ी है), मैं कूदकर (उस अपनत्व की नाव में से) उतर पड़ा। (मैंने अपनत्व, शारीरिक मोह छोड़ दिया। लेकिन यह सब इस कारण था कि मैंने वह 'दरु' न छोड़ा जिस दर पर टिके रहने से "हटकै नाही कोइ") ।६७।

कबीर पापी भगति न भावई, हरि पूजा न सुहाइ ॥
माखी चंदनु परहरै, जह बिगंध तह जाइ ॥६८॥

पद अर्थ : न भावई—अच्छी नहीं लगती। न सुहाइ—सुखदायक नहीं लगती। परहरै—त्याग देती है। जह—जहाँ। बिगंध—बदबू।

अर्थ : हे कबीर ! (चाहे प्रभु के दर पर टिके रहने में, प्रभु का गुण-कीर्तन करने का यह महत्त्व है कि संसार-समुद्र में डूबने से बच जाते हैं, लेकिन) विकारी मनुष्य को परमात्मा की भक्ति अच्छी नहीं लगती, परमात्मा की पूजा सुखदायक नहीं लगती। (विकारी मनुष्य का स्वभाव मक्खी जैसा होता है) मक्खी (सुन्दर ख़ुशबू वाले) चंदन को त्याग देती है, जहाँ बदबू हो वहाँ जाती है।६८।

कबीर बैदु मूआ, रोगी मूआ, मूआ सभ संसारु ॥
एकु कबीरा ना मूआ, जिह नाही रोवनहारु ॥६९॥

पद अर्थ : बैदु—रोगियों का इलाज करने वाला, विकारियों को उपदेश करके आत्मिक मौत से बचाने का यत्न करने वाला। मूआ—(रो-रोकर)

मर गया, (मायिक भोगों को रो-रोकर) मर गया। (मायिक भोगों की ख़ातिर परेशान हो-होकर आत्मिक मौत) मर गया। एकु—सिर्फ़ वह मनुष्य। जिह—जिसका। रोवनहारु—रोने वाला, रो-रोकर परेशान होने वाला, मायिक भोगों के लिये परेशान होने वाला। नाही—कोई नहीं।

अर्थ : हे कबीर ! (मायिक भोगों के लिये परेशान हो-होकर) सारा जगत् (संसार-समुद्र में डूबकर, मायिक-मोह में डूबकर आत्मिक मौत) मर रहा है, चाहे कोई रोगी है, चाहे कोई हकीम है (अर्थात, एक तो वे लोग हैं जो नासमझ तथा मूर्ख होने के कारण जीवन का रास्ता जानते ही नहीं तथा विकारों में फंसे हुये हैं, दूसरे वे हैं, जो विद्वान् पंडित हैं तथा मूर्ख लोगों को उपदेश करते हैं। लेकिन हालत दोनों की यह है कि इनकी सारी दौड़-भाग मायिक भोगों के लिये ही है, इनकी ज्ञानेन्द्रियाँ अपने अपने विषय-भोगों में प्रवृत्त हैं। ये सब आत्मिक मौत मरे हुये हैं) सिर्फ़ वह मनुष्य (आत्मिक मौत) नहीं मरता जिसका कोई (संगी साथी ज्ञानेन्द्रिय) (मायिक भोगों के लिये) रो नहीं रहा (परेशान नहीं हो रहा), तथा ऐसा मनुष्य सिर्फ़ वही हो सकता है जो प्रभु-दर नहीं छोड़ता, क्योंकि प्रभु-दर पर रहने से "हटकै नाही कोइ" ।६९।

कबीरा रामु न धिआइओ, मोटी लागी खोरि ॥
काइआ हांडी काठ की, ना ओह चर्है बहोरि ॥७०॥

पद अर्थ : खोरि—खोड़, खोखला-पन। मोटी खोरि लागी—उसके अन्दर मोटी खोड़ बनती जा रही है, विकार उसको अन्दर से खोखला किये जा रहे हैं, वह धीरे धीरे आत्मिक मौत मरता जाता है। काइआ—शरीर। ना चर्है—(चूल्हे पर) नहीं चढ़ती। बहोरि—दुबारा, दूसरी बार।

अर्थ : हे कबीर ! जिस जिस मनुष्य ने परमात्मा का सिमरन नहीं क़िया, उसको अन्दर ही अन्दर विकार खोखला किये जा रहे हैं (तथा वह सहजे-सहजे आत्मिक मौत मरता जाता है)। जैसे लकड़ी की हांडी (चूल्हे पर एक बार जलकर दुबारा चूल्हे पर) नहीं चढ़ सकती, वैसे ही (विकारों की आग में जले हुये मनुष्य का) यह शरीर है (जो इसको दूसरी बार नहीं मिलता) ।७०।

श्लोक अंक ७१ से १०१ तक :

कबीर ऐसी होइ परी, मन को भावतु कीनु ॥
मरने ते किआ डरपना, जब हाथि सिधउरा लीन ॥७१॥

पद अर्थ : होइ परी—हुई पड़ी है। ऐसी होइ परी—ऐसी हुई पड़ी है, अजीब मौज बन गई है। कीनु—कर दिया है। मन को भावतु—वह काम जो मन को पसंद आ गया है। मरने—मौत, आपा-भाव की तरफ़ से मौत। ते—से। किआ डरपना—क्यों डरना हुआ ? डरना नहीं चाहिये। हाथि—हाथ में। सिधउरा—सिंदूर लगा हुआ नारियल।

नोट : जो हिन्दु स्त्री अपने पति के मरने पर उसके साथ ही चिता पर जलकर मरना चाहती थी वह अपने हाथ में सिंदूर लगा हुआ नारियल पकड़ लेती थी। सिंदूर लगा हुआ नारियल हाथ में पकड़ लेना इस बात की निशानी थी कि स्त्री मौत से नहीं डरती, तथा अपने मृत पति के साथ जलने के लिये तैयार है। इसी तरह जिस भाग्यशाली मनुष्य को प्रभु-दर से भक्ति की दाति मिले, यह दाति ही इस बात की निशानी है कि इस मनुष्य ने आपा-भाव की मौत से नहीं डरना, ख़ुशी-ख़ुशी आपा-भाव त्याग देगा, विकारों की तरफ़ से मुँह मोड़ेगा।

अर्थ : हे कबीर ! जब कोई स्त्री (अपने पति के मरने पर) हाथ में सिंदूर लगा हुआ नारियल पकड़ लेती है तो वह मरने से नहीं डरती। जिस मनुष्य को प्रभु मन-पसंद (भक्ति की) दाति देता है, जिस पर यह अजब कृपा होती है, वह मनुष्य भी ख़ुशी-ख़ुशी आपा-भाव त्याग देता है ॥७१।

कबीर रस को गांडो चूसीऐ, गुन कउ मरीऐ रोइ ॥
अवगुनीआरे मानसै, भलो न कहि है कोइ ॥७२॥

पद अर्थ : रस को गांडो—रस का गन्ना, रस से भरा हुआ गन्ना। चूसीऐ—चूसा जाता है, दबाये जाने की तकलीफ़ सहारता है (रस प्राप्त करने के बदले में उसको यह मूल्य चुकाना पड़ता है कि बेलन में दबाया जाता है)। गुन कउ—गुणों के लिये, गुणों के बदले में। मरीऐ—मरना

पड़ता है, आपा-भाव त्यागना पड़ता है। रोइ—रोकर, (अवगुणों को) छोड़कर। मानसै—मनुष्य को। कहि है—कहेगा।

अर्थ : हे कबीर ! रस से भरा हुआ गन्ना (बेलन में) दबाया जाता है (अर्थात, रस की दाति के बदले में उसको यह मूल्य चुकाना पड़ता है कि वह बेलन में दबाया जाता है), सो, गुणों के बदले में अवगुणों को छोड़कर आपा-भाव की तरफ़ से मरना ही पड़ता है। (जो मनुष्य आपा-भाव नहीं छोड़ता तथा विकारों की तरफ़ ही रुचि रखता है, उस) विकारी मनुष्य को (जगत् में) कोई मनुष्य अच्छा नहीं कहता (अर्थात, भक्ति की दाति से भी रहित रहता है तथा संसार में बदनाम भी होता है) ।७२।

कबीर गागरि जल भरी, आजु काल्हि जै है फूटि ।।
गुरु जु न चेतहि आपनो, अध माझ लीजहिगे लूटि ।।७३।।

पद अर्थ : गागरि—(मिट्टी का) घड़ा। आजु काल्हि—आज कल, थोड़े ही दिनों में। फूटि जै है—फूट जायेगी। जु—जो मनुष्य। न चेतहि—याद नहीं रखते। अध माझ—बीच में ही। लीजहिगे लूटि—लूट लिये जायेंगे।

अर्थ : हे कबीर ! मिट्टी का कच्चा घड़ा पानी से भरा हुआ हो, वह जल्दी ही फूट जाता है (इस शरीर की भी यही दशा है, सदा कायम नहीं रह सकता। मानव-जन्म का मनोरथ प्राप्त करने के लिये इस शरीर के मोह को इसके नष्ट होने से पहले ही त्यागना है, अपनी मर्ज़ी त्यागकर गुरु के बताये हुये मार्ग पर चलना है, लेकिन) जो मनुष्य अपने गुरु को याद नहीं रखते (शारीरिक मोह में फंसकर गुरु को भुला बैठते हैं, गुरु के बताये हुये रास्ते को भुला देते हैं) वे मनुष्य ज़िन्दगी के सफ़र के बीच में ही लूट लिये जाते हैं (कामादि विकार अपने जाल में फंसाकर उनके सारे गुण यहाँ की राशि-पूँजी भी समाप्त हो जाती है तथा परलोक भी बिगड़ जाता है) ।७३।

नोट : कई सज्जन यहाँ पाठ 'अध माझली' करते हैं, शब्द 'जहिगे' को अलगकर देते हैं। यह ग़लत है। 'जहिगे' कोई शब्द नहीं बनता, न ही इसका कोई अर्थ निकलता है। 'माझली' के 'झ' को अर्थ करते समय

'ज' पढ़कर शब्द मज़ल बनाना भी बिलकुल ही नियम-रहित है। शब्द 'माझ' वाणी में बहुत बार आता है, इसलिये पाठ 'अध माझ' है।

कबीर कूकरु राम को, मुतीआ मेरो नाउ ॥
गले हमारे जेवरी, जह खिंचै तह जाउ ॥७४॥

पद अर्थ : कूकरु—कुत्ता। को—का। मुतीआ—(सुन्दर) मोती। (*नोट :* शौकीन लोग घरों में कुत्ते रखते हैं तथा 'मोती' आदि सुन्दर प्यारे उनके नाम रखते हैं। पालतू कुत्तों को बुलाते भी प्यार से हैं। वे कुत्ते रोटी की तरफ़ से निश्चिन्त होते हैं। मालिक की तरफ़ से रोटी मिलनी यकीनी होती है। लेकिन बाज़ारी कुत्ते रोटी की ख़ातिर दर दर भटकते हैं। हर जगह से उनको दुत्कारा जाता है। एक मालिक का होकर रहने में आदर तथा सुख है, दर दर पर भटकने से निरादर तथा दुःख प्राप्त होता है। आपा-भाव त्यागकर प्रभु के दर पर टिके रहना ही, प्रभु की रज़ा में चलना ही, सही रास्ता है।) जह—जहाँ, जिधर। खिंचै—खींचता है। जाउ—मैं जाता हूँ।

अर्थ : हे कबीर ! मैं अपने मालिक प्रभु (के दर) का कुत्ता हूँ, (प्रभु के दरवाज़े पर ही टिका रहता हूँ, इसलिये) मेरा नाम भी 'मोती' पड़ गया है (अर्थात, दुनियाँ भी मुझे प्यार से बुलाती है)। मेरे मालिक प्रभु ने मेरे गले में रस्सी डाली हुई है, जिधर वह मुझे खींचता है, मैं उधर ही जाता हूँ।७४।

कबीर जपनी काठ की, किआ दिखलावहि लोइ ॥
हिरदै रामु न चेतही, इह जपनी किआ होइ ॥७५॥

पद अर्थ : जपनी—माला। काठ की—तुलसी, रुद्राख आदि की। लोइ—जगत् में, लोगों को। न चेतही—तू नहीं सिमरता। किआ होइ—कोई लाभ नहीं।

अर्थ : हे कबीर ! तू तुलसी रुद्राख आदि की माला (हाथ में लेकर) क्यों लोगों को दिखाता फिरता है ? तू अपने हृदय में तो परमात्मा को याद नहीं करता, (हाथ में पकड़ी हुई) इस माला का कोई लाभ नहीं हो सकता।७५।

कबीर बिरहु भुयंगमु मनि बसै, मंतु न मानै कोइ ॥
राम बिओगी ना जीऐ, जीऐ त बउरा होइ ॥७६॥

नोट : हमारे देश में कई लोग साँपों के मंत्र जानते हैं। साँपों के काटे हुये लोगों को मंत्र की सहायता से साँप के ज़हर से बचाते हैं। लेकिन कई साँप ऐसे भी होते हैं जिनका काटा हुआ मनुष्य शायद ही बचता हो।

कबीर जी इस श्लोक में इस बात की ओर संकेत कर कहते हैं— परमात्मा के साथ वियोग का अहसास मानो, साँप है। जिस मनुष्य को यह डंक लग जाये (जिसको यह सूझ हो जाये कि मैं परमात्मा से बिछुड़ा हुआ हूँ, मुझे माया के भोगों ने परमात्मा से वियुक्त कर दिया है। यह डंक इतना तेज़ होता है कि सांसारिक पदार्थों के मोह का कोई मंत्र यहाँ असर नहीं कर सकता। विरह का डंक लगने से मनुष्य 'दुनियाँ' की तरफ़ से मर जाता है, उसका जीवन अन्य तरह का हो जाता है, 'दुनियाँ' उसको 'बउरा' (बेवकूफ़) कहती है, दुनियाँ के लिये वह बेवकूफ़ होता है।

पद अर्थ : बिरहु—वियोग, परमात्मा से वियोग का अहसास, यह चुभन कि मैं परमात्मा से बिछुड़ा हुआ हूँ। भुयंगमु—साँप। मनि—मन में। न मानै—नहीं मानता। राम बिओगी—वह मनुष्य जिसको परमात्मा से वियोग का अहसास है, जिसको यह चुभन है कि वह मायिक भोगों के कारण परमात्मा से टूटा हुआ है, जिसको विरह-साँप का डंक लग गया है। ना जीऐ—(विकारों के लिये) नहीं जी सकता, (आपा-भाव में) नहीं जी सकता। बउरा—बौरा।

अर्थ : हे कबीर ! ('काठ की जपनी' तो कुछ संवार नहीं सकती, लेकिन) जिस मनुष्य के मन में गुरु की शरण में आने से विरह का साँप आ बसे (जिस मनुष्य को गुरु-दर से यह सूझ मिल जाये कि इन कामादि ने मुझे परमात्मा से वियुक्त कर दिया है) कामादि का कोई मंत्र उस पर नहीं चल सकता। परमात्मा के वियोग को महसूस करने वाला मनुष्य जी ही नहीं सकता (अर्थात, परमात्मा से बिछुड़ने का अहसास एक ऐसा डंक है कि जिस मनुष्य को यह डंक लग जाता है वह मायिक भोगों के लिये जी ही नहीं सकता) जो जीवन यह जीता है, दुनियाँ के लिये वह बेवकूफ़ों वाला जीवन है ।७६।

कबीर पारस चंदनै, तिन है एक सुगंध ॥
तिह मिलि तेऊ ऊतम भए, लोह काठ निरगंध ॥७७॥

नोट : विरह का अनुभव गुरु के द्वारा ही होता है। गुरु मानो पारस है, गुरु चंदन है।

पद अर्थ : चंदनै—चंदन में। पारस चंदनै—पारसै चंदनै, पारस में तथा चंदन में। तिन है—इन पारस तथा चंदन में है। सुगंध—ख़ुशबू, गुण। तिह मिलि—इन पारस तथा चंदन को मिलकर। तेऊ—वे भी, वे काठ तथा लोहा भी। काठ निरगंध—लकड़ी जिसमें कोई सुगंध नहीं।

अर्थ : हे कबीर ! पारस तथा चंदन—इन दोनों में एक एक गुण है, लोहा तथा सुगंधहीन लकड़ी इनको र्स्पश प्राप्त कर उत्तम बन जाते हैं (लोहा पारस को छूकर सोना बन जाता है, साधारण वृक्ष चंदन के निकट रहकर सुगंध वाला हो जाता है। वैसे ही पहले कामादि में लिप्त मनुष्य गुरु को मिलकर 'राम बिओगी' बन जाता है) ॥७७॥

कबीर जम का ठेंगा बुरा है, ओहु नही सहिआ जाइ ॥
एकु जु साधू मोहि मिलिओ, तिन्हि लीआ अंचलि लाइ ॥७८॥

पद अर्थ : ठेंगा—चोट। ओहु—वह ठेंगा। साधू—गुरु। मोहि—(असल शब्द 'मोहि' है, यहाँ 'मुहि' पढ़ना है। अक्षर 'म' के साथ (ु) तथा (ो) दोनों मात्रायें हैं) मुझे। तिन्हि—उसने। अंचलि—आंचल के साथ, पल्ले।

अर्थ : हे कबीर ! (कामादि के वश में रहने से यम का डंडा सिर पर पड़ता है, जन्म-मरन के चक्कर में पड़ जाते हैं, तथा) यम की (यह) चोट इतनी बुरी है कि सहनी बड़ी कठिन है। (परमात्मा की कृपा से) मुझे गुरु मिल गया, उसने अपने आंचल में रख लिया (शरन में रख लिया), (तथा मैं कामादि में नहीं फंसा) ॥७८॥

कबीर बैदु कहै हउ ही भला, दारू मेरै वसि ॥
इह तउ बसतु गुपाल की, जब भावै लेइ खसि ॥७९॥

कबीर नउबति आपनी, दिन दस लेहु बजाइ ॥
नदी नाव संजोग जिउ, बहुरि न मिलि है आइ ॥८०॥

पद अर्थ : बैदु—हकीम। हउ ही—मैं ही। भला—सयाना मनुष्य। मेरै वसि—मेरे वश में। इह—यह प्राण। बसतु—वस्तु। खसि लेइ—छीन लेता है।७९।

नउबति—ढोल। आपनी नउबति बजाइ लेहु—अपना ढोल बजा लो, मनपसंद मौजें कर लो। नाव—नौका। संजोग—मेल, मिलाप। नदी... जिउ—जैसे नदी से पार जाने के लिये नाव में बैठे मुसाफ़िरों का मिलाप होता है (फिर कभी उन सबका मिलाप नहीं होता)। बहुरि—दुबारा। न मिलि है—नहीं मिलेगा (मानव-जन्म नहीं मिलेगा)।८०।

अर्थ : हे कबीर ! हकीम (तो) कहता है कि मैं बड़ा सयाना हूँ (रोग आने पर प्राणों को शरीर से अलग होने से बचाने के लिये) इलाज मेरे वश में है (मैं रोग का इलाज करना जानता हूँ), लेकिन यह प्राण उस मालिक प्रभु की (दी हुई अमानती) वस्तु है, जब वह चाहता है (शरीर में से) निकाल लेता है। (यहाँ सदा नहीं टिके रहना, इसलिये यम के ठेंगे का ख़याल करो तथा गुरु-दर पर आकर "गुन कउ मरीऐ रोइ")।७९।

हे कबीर! (यदि तू यह नहीं सुनता, तो तेरी इच्छा) मन-इच्छित मौजें कर ले, (लेकिन ये मौजें हैं सिर्फ़) दस दिनों के लिये ही। जैसे नदी से पार जाने के लिये नाव में बैठे मुसाफ़िरों का मिलाप है (दुबारा वे सारे कभी नहीं मिलते), वैसे (मन-इच्छित मौजों में गँवाया हुआ यह मानव-शरीर) दुबारा नहीं मिलेगा।८०।

कबीर सात समुंदहि मसु करउ, कलम करउ बनराइ ॥
बसुधा कागदु जउ करउ, हरि जसु लिखनु न जाइ ॥८१॥

पद अर्थ : मसु—स्याही। करउ—मैं करूँ। बनराइ—सारी बनस्पति, सभी वृक्ष, पेड़, पौधे। बसुधा—धरती। कागदु—काग़ज़ [*नोट :* अक्षर 'ज़' कई बार 'द' की तरह उच्चारण किया जाता है, जैसे काज़ी या कादी, हज़ूरि या हदूरि, हाज़र या हादर]। जउ—यदि। जसु—यश, गुण।

अर्थ : हे कबीर ! यदि मैं सातों समुद्रों (के पानी) को स्याही बना लूँ, सभी पेड़ों, वृक्षों की लेखनी (कलम) बना लूँ, सारी धरती को काग़ज़ के स्थान पर प्रयोग करूँ, तो भी परमात्मा के गुण (पूर्ण रूप से) लिखे नहीं जा सकते (अर्थात, इंसान ने परमात्मा के गुण इसलिये नहीं गाने कि गुणों का अंत पाया जा सके, तथा सभी गुण बयान किये जा सकें) ।८१।

नोट : श्लोक अंक ७२ में लिखते हैं "अवगुनीआरे मानसै भलो न कहिहै कोइ"। विकारों, अवगुणों में पड़कर मनुष्य के अन्दर अवगुणों के संस्कार एकत्र होते जाते हैं। इनसे बचने का तरीका सिर्फ़ यही है कि गुरु पारस को मिलकर मनुष्य प्रभु के गुण गाये। गुणों के साथ मन को बार बार जोड़ने से मन में भी गुण ही पैदा होने शुरू हो जायेंगे, मन नीचता से पवित्र हो जायेगा तथा अन्त में गुणी के साथ मिल सकेगा।

इस ख़याल की व्याख्या अगले श्लोक अंक ८२ में करते हैं।

कबीर जाति जुलाहा किआ करै, हिरदै बसै गुपाल ॥
कबीर रमईआ कंठ मिलु, चूकहि सरब जंजाल ॥८२॥

नोट : निम्न-जाति में जन्म लेने वाला मनुष्य लोगों के उपालभ्भों से अपने आप को नीचा महसूस करने लग जाता है, धीरे धीरे मानवता की निर्भयता से गिर पड़ता है, हीन-भावना का शिकार हो जाता है तथा ऊँची-जाति वालों तथा धनाढ्य लोगों के आगे गिड़गिड़ाता है; लेकिन प्रभु के गुण-कीर्तन की बरकत से यह हीन-भावना दूर हो जाती है।

पद अर्थ : किआ करै—कुछ बिगाड़ नहीं सकती, मेरे अन्दर हीन-भावना पैदा नहीं कर सकती। रमईआ कंठ मिलु—प्रभु के गले लग, प्रभु की याद में जुड़। चूकहि—समाप्त हो जायेंगे।

अर्थ : हे कबीर ! (प्रभु के गुण गाने से गुणों का अंत नहीं जाना जा सकता, लेकिन सिफ़ति-सालाह की बरकत से) मेरी (निम्न) जुलाहा-जाति मेरे अन्दर हीन-भावना पैदा नहीं कर सकती, क्योंकि अब मेरे अन्दर सृष्टि का मालिक परमात्मा बस रहा है। हे कबीर ! प्रभु की याद में जुड़ (सिर्फ़ निम्न-जाति की कमज़ोरी ही नहीं) माया के सभी ही जंजाल समाप्त हो जायेंगे ।८२।

कबीर ऐसा को नही, मंदरु देइ जराइ ।।
पांचउ लरिके मारि कै, रहै राम लिउ लाइ ।।८३।।

पद अर्थ : को नही—कोई विरला ही होता है। मंदरु—शरीर, शरीर का मोह। जराइ देइ—जला दे। पांचउ लरिके—माया के पाँचों पुत्र, कामादि। लिउ—लिव।

अर्थ : हे कबीर ! (चाहे सिफ़ति-सालाह में बड़ी बरकत है, लेकिन शारीरिक मोह में कामादि का इतना ज़ोर है कि) कोइ विरला ऐसा मनुष्य होता है जो शारीरिक मोह को जलाता है, कोई विरला है जो कामादि माया के पाँचों पुत्रों को मारकर प्रभु के साथ लिव लगाये रखता है।८३।

कबीर ऐसा को नही, इहु तनु देवै फूकि ।।
अंधा लोगु न जानई, रहिओ कबीरा कूकि ।।८४।।

पद अर्थ : तनु—शरीर, शरीर का मोह। फूकि देवै—जला दे। अंधा—अंधा हुआ, शारीरिक मोह में अंधा, इतना मस्त कि जीवन का सही रास्ता आँखों से दिखाई ही नहीं देता। कूकि रहिओ—ज़ोर ज़ोर से कह रहा है।

अर्थ : हे कबीर ! (माया के प्रभाव के कारण) कोई विरला ही ऐसा मिलता है जो (प्रभु की सिफ़ति-सालाह करे तथा) शारीरिक मोह को जला दे। सांसारिक मोह में इतना लिप्त है कि इसको अपनी भलाई सूझती ही नहीं, चाहे कबीर ज़ोर ज़ोर से बता रहा है।८४।

कबीर सती पुकारै चिह चड़ी, सुनु हो बीर मसान ।।
लोगु सबाइआ चलि गइओ, हम तुम कामु निदान ।।८५।।

नोट : इस श्लोक के साथ पिछले दोनों श्लोक अंक ८३ तथा ८४ मिलाकर पढ़ें। एक आश्चर्य-जनक आत्मिक उड़ान है। कहते हैं कि कोई विरला ही है जो अपने आप को जलाता है। हमने 'सती' को देखा है, वह हँस-हँसकर अपने शरीर को जलाती है। सारा संसार 'मसाणों' (श्मशान) से डरता-कांपता है, लेकिन 'सती' उसे 'वीर' कहकर बुलाती है। उस 'मसाण' से प्यार करती है। क्यों ? 'सती' जानती है कि जब यह 'मसाण'

मेरे शरीर को जला देगा तो मैं अपने परलोक गये पति को जा मिलूँगी।

प्रभु-पति प्रदेश में बैठा है, जीव-स्त्री मायके-लोक में बैठी है, अपने ही शरीर के साथ प्यार किये जा रही है। जीव-स्त्री का यह शारीरिक मोह प्रभु-पति को मिलने की राह में रुकावट डाल रहा है, लेकिन यह मोह बहुत ही बलवान है, इसको कोई एक ही छोड़ती है, इसको कोई एक ही जलाती है। सिर्फ़ वही जलाती है जिसको समझ आ गई है कि इसको जलाने से ही प्रभु-पति मिलेगा। फिर वह जीव-स्त्री क्यों उस 'ब्रह्म-अग्नि' को 'वीर' न कहे ? क्यों उस 'मसाण' को प्यार न करे जो इसके 'शरीर' को, 'शारीरिक मोह' को जलाता है ?

पद अर्थ : सती—वह स्त्री जो अपने मृत-पति के साथ चिता पर चढ़ती है। चिह—चिता। हो बीर मसान—हे श्मशान की प्यारी आग ! सबाइआ—सारा। चलि गइओ—चला गया है, साथ छोड़ गया है। निदान—आख़िर। कामु—मतलब, काम। हम तुम कामु—मुझे तेरे साथ मतलब पड़ा है। पुकारै—ज़ोर से कहती है, हिम्मत से कहती है, पुकारती है।

नोट : शब्द 'सुनु' एक-वचन है, सिर्फ़ किसी एक को संबोधन किया जा रहा है। कई सज्जन शब्द 'मसान' का अर्थ करते हैं, 'हे श्मशान में आये लोगो'! यह अर्थ ग़लत है।

अर्थ : हे कबीर ! जो स्त्री अपने परलोक गये पति को मिलने के लिये उसके शरीर के साथ अपने आप को जलाने के लिये तैयार होती है वह चिता पर चढ़कर दलेर होकर कहती है—हे भाई मसाण ! सुन, सभी संबंधी मेरा साथ छोड़ गये हैं (मुझे कोई मेरे पति के साथ नहीं मिला सका), आख़िर, हे भाई ! मुझे तेरे साथ ग़र्ज़ पड़ी है।८५।

नोट : जिस जीव-स्त्री को यह यकीन बन जाता है कि शारीरिक मोह को जलाये बिना प्रभु-पति के साथ मिलाप नहीं हो सकता, तथा इस मोह को जलाने के लिये सिर्फ़ सिफ़ति-सालाह ही समर्थ है, सिर्फ़ ब्रह्म-अग्नि ही इसको जला सकती है, वह जीव-स्त्री इस सिफ़ति-सालाह को प्यार करती है, इस ब्रह्म-अग्नि को 'वीर' कहकर बुलाती है तथा कहती है—हे प्यारी 'ब्रह्म-अग्नि'! दुनियाँ वाले साथी मुझे प्रभु-पति के साथ नहीं जोड़ सके, उनका साथ भी कच्चा ही साबित हुआ। हे 'ब्रह्म-अग्नि'! सिर्फ़

एक तू ही है जो मेरे शारीरिक मोह को जलाकर मुझे प्यारे प्रभु-पति के साथ मिला सकती है। आख़िर मैंने तेरा आसरा लिया है।

कबीर मनु पंखी भइओ, उडि उडि दह दिस जाइ ॥
जो जैसी संगति मिलै, सो तैसो फलु खाइ ॥८६॥

पद अर्थ : दह दिस—दसों दिशाओं में, अनेक मायिक पदार्थों की तरफ़। उडि उडि—बार बार उड़कर, बार बार भटककर।

अर्थ : (हे कबीर! यह जानते हुये भी कि प्रभु की सिफ़ति-सालाह विकारों को जलाकर प्रभु-चरणों में जोड़ती है) मनुष्य का मन पक्षी बन जाता है (एक प्रभु का आश्रय छोड़कर) भटक-भटककर (मायिक पदार्थों के पीछे) दसों दिशाओं में दौड़ता है, (तथा यह प्रकृति का नियम है कि) जो मनुष्य जैसी संगति में बैठता है, वैसा ही उसको फल मिलता है।८६।

कबीर जा कउ खोजते, पाइओ सोई ठउरु ॥
सोई फिरि कै तू भइआ, जा कउ कहता अउरु ॥८७॥

पद अर्थ : ठउरु—स्थान। फिरि कै—पलटकर। जा कउ—जिस स्थान को।

अर्थ : हे कबीर ! (प्रभु की सिफ़ति-सालाह करने से, प्रभु के गुण गाने से, गुणों का अंत नहीं जाना जा सकता, लेकिन सिफ़ति-सालाह की सहायता से) मैं (प्रभु का चरण रूप) जो स्थान ढूँढ़ रहा था, वही स्थान मुझे मिल गया है। हे कबीर! (जिस प्रभु) को तू पहले 'कोई अन्य' कहता था (जिसको तू पहले अपने से अलग समझता था) तू (सिफ़ति-सालाह की बरकत से) बदलकर उसका ही रूप बन गया है (उसमें लीन हो गया है, उसके साथ एक-रूप हो गया है)।८७।

कबीर मारी मरउ कुसंग की, केले निकटि जु बेरि ॥
उह झूलै, उह चीरीऐ, साकत संगु न हेरि ॥८८॥

पद अर्थ : मरउ—मैं मर जाऊँगी। कुसंग की मारी—बुरी संगति की मार से, बुरी संगति में बैठने से, विकारों के प्रभाव से प्रभावित।

निकटि—समीप। जु—जैसे जैसे। बेरि—बेरी। उह झूलै—बेरी हवा से झूलती है, झूमती है। उह चीरीऐ—वह केला चीरा जाता है। न हेरि—न देख। साकत—परमात्मा से टूटा हुआ मनुष्य, वह मनुष्य जो परमात्मा की याद भुला बैठा हो।

अर्थ : हे कबीर ! (यदि तूने परमात्मा की सिफ़ति-सालाह छोड़ दी, तो स्वाभाविक ही उनका साथ करोगे जो प्रभु से टूटे हुये हैं, लेकिन देख) परमात्मा से टूटे हुये लोगों का साथ कभी मत करना। केले के निकट बेरी उगी हुई हो, बेरी हवा के साथ झूलती है, केला (उसके काँटों से) चीरा जाता है, वैसे ही (हे कबीर !) बुरी संगति में बैठने से विकारों के प्रभाव से तुम आत्मिक मौत मर जायोगे।८८।

नोट : प्रभु के गुण गाने से गुणों का अंत नहीं पाया जा सकता, लेकिन इसकी बरकत से कुसंग से बचा जा सकता है तथा आत्मिक मौत से बच सकते हैं।

कबीर भार पराई सिर चरै, चलिओ चाहै बाट ॥
अपने भारहि ना डरै, आगै अउघट घाट ॥८९॥

पद अर्थ : भार पराई—पर-निंदा का भार। सिर चरै—मनुष्य के सिर पर चढ़ता जाता है, कुसंग में फंसे हुए मनुष्य के सिर पर चढ़ता जाता है। बाट—रास्ता। चलिओ चाहै बाट—(भार चढ़ता जाता है, फिर भी मनुष्य इस निंदा के) रास्ते ही चलना पसंद करता है। अपने भारहि—अपने (किये और विकारों के) भार से। आगै—मनुष्य के सामने। अउघट घाट—कठिन रास्ता।

नोट : ज़िन्दगी का सफ़र, मानो एक कठिन घाटी है, चढ़ाई का रास्ता है क्योंकि अनेक विकार मनुष्य के राह में रुकावट डालते हैं। जब मनुष्य परमात्मा की याद भुलाता है तो असावधानी से कुसंग में आ फंसता है तथा इसकी कोमल जान विकारों के काँटों से चीरी (काटी) जाती है तथा कुकर्म करने से बिलकुल नहीं झिझकता। एक तरफ़ अपनी यह दुर्दशा, दूसरी तरफ़ औरों की निंदा करने की भी आदत पड़ जाती है, यह आदत इसको और डूबोती है। बस ! एक सिफ़ति-सालाह न करने से यह दुर्दशा होती है।

अर्थ : हे कबीर ! मनुष्य के सामने एक बहुत कठिन रास्ता है लेकिन (कुसंग के कारण) इसके सिर ऊपर पर-निंदा का भार चढ़ता जाता है। (भार भी चढ़ता जाता है, फिर भी मनुष्य इस निंदा के) रास्ते पर ही चलना पसंद करता है तथा अपने (किये और मंद-कर्मों के) भार का तो इसको ध्यान ही नहीं आता।८९।

नोट : निंदा में बहुत ख़तरे वाली बात ही यह होती है कि मनुष्य दूसरों के ऐब ढूँढ़ता-ढूँढ़ता अपने मंद जीवन की तरफ़ से असावधान ही हो जाता है। प्रभु की सिफ़ति-सालाह इस ख़तरनाक रास्ते से बचाती है।

कबीर बन की दाधी लाकरी, ठाढी करै पुकार ॥
मति बसि परउ लुहार के, जारै दूजी बार ॥९०॥

नोट : जो कोयला लोहार आदि लोग अपनी भट्ठियों में प्रयोग करते हैं, इसको तैयार करने के लिये ख़ास तरीका अपनाना पड़ता है। कीकर आदि की गाँठें ख़ास तरह की बनी हुई भट्ठी में मिट्टी के नीचे दबाई जाती हैं। इन गाँठों को इस तरह आग लगाई जाती है कि बाहर से हवा न लगे तथा मिट्टी के अन्दर ही लकड़ियाँ कोयला बन जायें, लेकिन इनकी गैस कोयले के अन्दर ही टिकी रहे। क्योंकि इस कोयले की ज़रूरत आम तौर पर लोहारों को ही पड़ती थी। इसलिये इस कोयले को तैयार भी लोहार ही किया करते थे। एक बार तो लकड़ी कोयला बनते समय मिट्टी के अन्दर रहकर जलती है तथा दूसरी बार लोहार आदि की भट्ठी में पड़कर जलती है।

इस शब्द 'लुहार' का प्रयोग बाबा फ़रीद जी ने भी किया है। उन्होंने भी इसे कोयले के संबंध में ही प्रयुक्त किया है, लिखते हैं :

कंधि कुहाड़ा, सिरि घड़ा, वणि कैसरु लोहारु ॥
फरीदा हउ लोड़ी सहु आपणा, तू लोड़हि अंगिआर ॥४३॥

इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार है :

कंधे पर कुल्हाड़ी तथा सिर पर घड़ा (रखे) लोहार जंगल में बादशाह (बना होता) है (क्योंकि जिस वृक्ष पर चाहे कुल्हाड़ी चला सकता है); (इसी

तरह मनुष्य जगत्-जंगल का सरदार है)। हे फ़रीद ! मैं तो (इस जगत्-जंगल में) अपने स्वामी प्रभु को खोज रहा हूँ, तथा तू (हे जीव! लोहार की तरह) कोयले ढूँढ़ रहा है, (अर्थात, 'विसु गंदला' रूप कोयले ढूँढ़ता है)।

कबीर जी तथा फ़रीद जी के इन दोनों श्लोकों में शब्द 'लुहार' की साझ बहुत आनंदमय है। दोनों में एक ही भाव है—वह मनुष्य, जो इस धरती का सरदार था, लेकिन सारी उम्र कोयले का व्यापार करते गुज़ार रहा है, सारी उम्र विकारों में गँवा रहा है, साकत।

पद अर्थ : बन—जंगल। दाधी लाकरी—जली हुई लकड़ी, कोयला बन चुकी लकड़ी। ठाढी—खड़ी हुई, अर्थात, साफ़ तौर पर प्रत्यक्ष। मति—मत। बसि—वश में, मुसीबत में। लुहार—वह मनुष्य जो सारी उम्र कोयले-विकार के व्यापार में गुज़ार रहा है, साकत, विकारी मनुष्य।

अर्थ : हे कबीर ! (यदि तू ध्यान से सुनकर समझे, तो) जंगल की कोयला बनी हुई लकड़ी भी स्पष्ट रूप से पुकार करती (सुनी जाती) है कि मैं कहीं लोहार के वश में न पड़ जाऊँ, वह तो मुझे दूसरी बार जलायेगा।८०।

नोट : श्लोक अंक ८८, ८९ तथा ९० मिलाकर पढ़ें। प्रभु की सिफ़ति-सालाह न करने वाला मनुष्य कुसंग में फंसता है, धीरे-धीरे उसकी कोमल जान विकारों में जलकर कोयला हो जाती है, जीवन गंदा हो जाता है, वह हर समय परेशान रहता है, लेकिन यह परेशानी, यह 'जलन', यह कालिख समाप्त होने में नहीं आती, परेशानी एवं खीझ से युक्त मनुष्य कुसंग में बैठकर अपने आप को और जलाता है, और खीझता है तथा जलने-खीझने, परेशान होने का यह सिलसिला चलता रहता है।९०।

कबीर एक मरंते दुइ मूए, दोइ मरंतह चारि ॥
चारि मरंतह छह मूए, चारि पुरख दुइ नारि ॥९१॥

नोट : इस श्लोक में किसी छः के मरने का ज़िकर है। कुछ टीकाकार सज्जनों ने तो एक हिरनी, उसके बच्चे, शिकारी तथा उसकी पत्नी के मरने की कहानी गढ़ ली है, लेकिन यह उद्यम तो बिलकुल हास्यास्पद है। जिनको कहानियाँ गढ़ने की आदत पड़ी हुई है वे यहाँ पहुँचकर मुँह के बल गिरे

प्रतीत होते हैं। आख़िर इन हिरनी आदि के मरने से इंसानी जीवन का क्या संबंध ? हमें अपने मौजूदा जीवन-सफ़र में क्या हिदायत मिली ?

यह श्लोक काफ़ी कठिन है, क्योंकि इन छः का विवरण तसल्ली-बख़्श नहीं मिल रहा। अभिमान, राग, द्वैख, अहंकार, आशा, तृष्णा आदि बहुत मशहूर शब्द हैं। टीकाकारों ने अपनी अपनी समझ अनुसार यह गिनती पूरी कर दी है। लेकिन यह कैसे पता लगे कि कबीर जी किन छः की ओर संकेत कर रहे हैं ?

जैसे फ़रीद जी के श्लोकों को मैं एक लड़ीवार विषय समझता हूँ, इसी धुरी से मैंने उनका टीका लिखा था। इसी तरह मैं इन श्लोकों को भी लड़ीवार विषय ही समझता हूँ। यदि इस धुरी से विचार करने की कोशिश की जाये तो आशा, तृष्णा, अहंकार आदि विकारों के नाम देकर गिनती पूरी करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

श्लोक अंक ८१ में परमात्मा के गुण गाने का ज़िकर है, इसके बाद अगले ९ श्लोकों में कबीर जी लिखते हैं कि सिफ़ति-सालाह की बरकत से ये परिणाम निकलते हैं।

धार्मिक रास्ते पर चलने का यत्न करने वाले प्रत्येक मनुष्य के सामने सबसे पहला बड़ा प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि मन को कैसे मारा जाये ? कोई तप करता है, कोई दान-पुण्य करता है, कोई तीर्थों पर जाता है, कोई जंगलों में जा बसता है, लेकिन कबीर जी कहते हैं :

मनु मारण कारणि बन जाईऐ ॥
सो जलु बिनु भगवंत न पाईऐ ॥१॥ *(पन्ना ३२३)*

इन श्लोकों में भी और और विवरण देकर श्लोक अंक १०१ में स्पष्ट कहते हैं कि साधनों का क्या लाभ, यदि "मनु मूंडिआ नही"। मानव-जन्म की रणभूमि में सबसे पहला मुकाबला मन से ही माना गया है। यदि इसको जीत लिया जाये तो इसके साथ और कई विकार जीते जाते हैं, जिनमें से श्लोक अंक ९१ में कबीर जी ने सिर्फ़ पाँच की तरफ़ संकेत किया है (तथा छटा मन)।

यह ठीक है कि इस श्लोक में कबीर जी ने 'छः' कहकर सिर्फ़

संकेत ही किया है, लेकिन असल में श्लोक अंक ८१ से ९० तक इन पाँचों का विवरण वे आप ही दे चुके हैं। कहते हैं—प्रभु के गुण गाने से गुणों का अंत नहीं पाया जा सकता, लेकिन सिफ़ति-सालाह की बरकत से मन 'मूंडिआ' जाता है, मन मर जाता है। इस मन के मरने से निम्न-लिखित पाँच बड़े बड़े दैत्य भी मर जाते हैं:

श्लोक अंक ८२—जाति-अभिमान।

अंक ८३, ८४, ८५—शारीरिक-मोह।

अंक ८६—भटकना, तृष्णा।

अंक ८८—कुसंग।

अंक ८९—निंदा।

इनमें से मन, जाति-अभिमान, शारीरिक मोह, कुसंग—ये चारों 'पुरख' हैं, पुलिंग हैं।

तृष्णा तथा निंदा स्त्री-लिंग हैं, 'नारि' हैं।

अर्थ : हे कबीर! (प्रभु के गुण गाने से गुणों का अंत तो नहीं जाना जा सकता, लेकिन इस सिफ़ति-सालाह की बरकत से 'मन' मर जाता है, मन विकारों की तरफ़ से हट जाता है) इस एक मन के मरने से एक और भी मर गया—जाति-अभिमान, तथा कुल दो मर गये—मन तथा जाति-अभिमान। फिर दो और मरे—शारीरिक-मोह तथा तृष्णा; कुल चार हो गये। दो और मरे—कुसंग तथा निंदा; ये सारे छः हो गये, चार पुलिंग तथा दो स्त्री-लिंग।९१।

कबीर देखि देखि जगु ढूंढिआ, कहूं न पाइआ ठौरु ॥
जिनि हरि का नामु न चेतिओ, कहा भुलाने अउर ॥९२॥

पद अर्थ : देखि देखि ढूंढिआ—मुड़-मुड़ देखकर भाल की है। कहूं न—कहीं भी नहीं। ठउरु—स्थान, मन के टिकने का स्थान, वह स्थान जहाँ मन को शान्ति मिले, जहाँ मन भटकने से हट जाये। जिनि—जिस मनुष्य ने। कहा अउर—कहीं अन्य स्थान पर? भुलाने—भूले फिरते हो।

अर्थ : हे कबीर! मैंने बड़ी मेहनत से सारा जगत् ढूँढ़ देखा है, कहीं भी ऐसा स्थान नहीं मिला जहाँ मन भटकने से हट जाये। जिस मनुष्य

ने परमात्मा के नाम का सिमरन नहीं किया (उसको कहीं भी मन की शान्ति की जगह नहीं मिल सकी, प्रभु का नाम ही, जो सतसंग में मिलता है, भटकने से बचाता है)। (सिफ़ति-सालाह छोड़कर) क्यों अन्य अन्य स्थानों पर भटकते फिरते हो ?।९२।

कबीर संगति करीऐ साध की, अंति करै निरबाहु ।।
साकत संगु न कीजीऐ, जा ते होइ बिनाहु ।।९३।।

पद अर्थ : अंति—अंत तक, सदा। करै निरबाहु—साथ देता है, संगी बना रहता है। साकत संगु—परमात्मा से टूटे हुये का साथ। जा ते—जिस (संग) से। बिनाहु—नाश, विनाश, आत्मिक मौत।

अर्थ : हे कबीर ! (मन की शान्ति के लिये एक ही 'ठउर' है, वह है 'साध-संगति', सो) साध-संगति में जुड़ना चाहिये, साध-संगति वाला साथ अंत तक निभता है, परमात्मा से टूटे हुये लोगों की संगति नहीं करनी चाहिये, इससे आत्मिक मौत (होने का डर) है।९३।

कबीर जग महि चेतिओ जानि कै, जग महि रहिओ समाइ ।।
जिन्ह हरि का नामु न चेतिओ, बादहि जनमें आइ ।।९४।।

पहली पंक्ति का अन्वय इस प्रकार है :

कबीर ! जिन्ह जग महि (आइ) सो प्रभू जानि कै चेतिउ (जो) जग महि रहिउ समाइ (से जग महि जनमें आइ).....।

पद अर्थ : जग महि—जग महि (आइ), जगत् में आकर, जगत् में जन्म लेकर। जानि कै—पहचान कर। बादहि—व्यर्थ। आइ जनमें—आकर जन्मे।

अर्थ : हे कबीर ! (मन के लिये शान्ति का स्थान 'प्रभु' का नाम ही है, सो) जिन्होंने जगत् में जन्म लेकर उस प्रभु को, इस प्रकार पहचान कर कि वह सारे जगत् में व्यापक है, सिमरा है (प्रभु का सिमरन किया है) (उनका ही) जगत् में जन्म लेना समझो, उनका ही जन्म लेना सफल है, वही साधु हैं तथा उनकी संगति ही साध-संगति है। जिन्होंने परमात्मा के नाम का सिमरन नहीं किया, उन्होंने व्यर्थ ही जन्म लिया।९४।

कबीर आसा करीऐ राम की, अवरै आस निरास ।।
नरकि परहि ते मानई, जो हरि नाम उदास ।।९५।।

पद अर्थ : आसा.....की—परमात्मा पर आशा रखें, परमात्मा का आश्रय लें। निरास—निराश। नरकि परहि—नरक में पड़ते हैं, सदा दुःखी रहते हैं। मानई—मनुष्य।

अर्थ : हे कबीर ! (यदि मन के लिये शान्ति की 'ठौर' चाहिये तो साध-संगति में जुड़कर) एक परमात्मा पर डोरी रखनी चाहिये, अन्य आशायें छोड़ देनी चाहियें। जो मनुष्य परमात्मा की याद से मुँह मोड़ लेते हैं, वे नरक में पड़े रहते हैं (सदा दुःखी रहते हैं) ।९५।

कबीर सिख साखा बहुते कीए, केसो कीओ न मीतु ।।
चाले थे हरि मिलन कउ, बीचै अटकिओ चीतु ।।९६।।

पद अर्थ : सिख—चेले। केसो—[Skt. केशव, केशा : प्रशास्ताः सन्ति अस्य इति, जिसके लंबे लंबे केश हैं वह हरि] परमात्मा। चाले थे—चले थे, उद्यम किया था। अटकिओ—अटक गया, फंस गया।

अर्थ : हे कबीर ! जिन्होंने परमात्मा को मित्र न बनाया (परमात्मा के साथ साझ न बनाई, तथा) कई चेले बना लिये (उन्होंने पहले तो चाहे) परमात्मा को मिलने का उद्यम किया था, लेकिन उनका मन रास्ते में ही अटक गया। (चेलों से सेवा-पूजा करवाने में वे व्यस्त हो गये, प्रभु का सिमरन भुला बैठे तथा मन की शान्ति की 'ठौर' नसीब न हुई) ।९६।

नोट : जिनकी संगति करने का ज़िकर श्लोक अंक ९३ में है, उनके बारे में भ्रम निवारन करने के लिये कबीर जी कहते हैं कि 'साध' सिर्फ़ वही है जो सर्वव्यापक राम का सिमरन करते हैं, जिन्होंने चेले-चाटड़ों वाला आडंबर रच लिया है तथा जो बंदगी से हटकर अपनी सेवा-पूजा में ही मस्त हो गये हैं, वे 'साध' नहीं हैं, चाहे दूसरों को उपदेश भी देते हैं।

कबीर कारनु बपुरा किआ करै, जउ राम न करै सहाइ ।।
जिह जिह डाली पगु धरउ, सोई मुरि मुरि जाइ ।।९७।।

नोट : किसी ऊँचे लंबे वृक्ष की चोटी पर चढ़ना हो तो वृक्ष की डालियों का सहारा लिया जाता है, किसी डाली को हाथ से पकड़ा, किसी डाली पर पैर रखा। बस, धीरे-धीरे इस तरह चोटी पर पहुँच जाते हैं। लेकिन यदि वृक्ष की डालियाँ कमज़ोर हों तो चोटी पर पहुँचने की जगह किसी डाली के टूट जाने के कारण चोटें खानी पड़ती हैं तथा कई बार जान का भी ख़तरा हो जाता है।

इंसानी ज़िन्दगी मानो, एक ऊँचा लंबा वृक्ष है, जिसकी चोटी प्रभु के चरण हैं। मनुष्य ने अपने जीवन सफ़र में इस चोटी पर पहुँचना है। गुरमुख, साध इस वृक्ष की डालियाँ हैं। ये लोग साधारण मनुष्य के लिये प्रभु-चरणों तक पहुँचाने का साधन हैं। लेकिन जगत् में पाखंड भी बहुत है। जो स्वयं ही 'हरि-नाम' की ओर से कोरे हैं तथा सिर्फ़ चेले ही बनाये फिरते हैं, वे इस वृक्ष की मानो कच्ची डालियाँ हैं, इनका सहारा लेने से चोटी तक नहीं पहुँचा जा सकता बल्कि मुँह के भार गिरकर जान गँवाने का डर है। आत्मिक मौत मरने का ख़तरा पैदा हो जाता है। 'साध' साधन तो ज़रूर हैं लेकिन 'साध' वे हों जिनके अन्दर भी सिमरन की शान्ति हो।

पद अर्थ : कारनु—कारण, साधन, 'हरि मिलन' का साधन। बपुरा—बेचारा, कमज़ोर। सहाइ—सहायता। जिह जिह—जिस जिस। धरउ—मैं धरता हूँ। पगु—पैर। पगु धरउ—मैं पैर रखता हूँ, मैं सहारा लेता हूँ। मुरि जाइ—मुड़ती जा रही है, टूटती जा रही है, किसी न किसी विकार के नीचे स्वयं दबा जा रहा है।

अर्थ : हे कबीर ! (यह तो ठीक है कि मन की शान्ति का 'ठौर' साध-संगति ही है, प्रभु के चरणों में टिके रहने के लिये "संगति करीऐ साध की", साध-संगति ही एक-मात्र साधन है, लेकिन) यदि परमात्मा स्वयं सहायता न करे (यदि 'साध' के अन्दर परमात्मा आप न आ बसे, यदि 'साध' स्वयं प्रभु-चरणों में न जुड़ा हो) तो यह साधन कमज़ोर हो जाने के कारण कोई लाभ नहीं पहुँचाता। (इंसानी उच्च जीवन-रूप वृक्ष की चोटी पर पहुँचाने के लिए 'साध' मानो शाख़ायें हैं, लेकिन पाखंडी तथा चेले-चाटड़े ही बनाने वाले 'साध' कमज़ोर टहनियाँ हैं। मैं तो ऐसी जिस जिस शाख़ा पर पैर रखता हूँ वह (स्वार्थ में कमज़ोर होने के कारण) टूटती जा रही है।९७।

कबीर अवरह कउ उपदेसते, मुख मै परि है रेतु ॥
रासि बिरानी राखते, खाया घर का खेतु ॥९८॥

पद अर्थ : अवरह कउ—दूसरों को। मै—में। परि है—पड़ती है। रेतु—[शब्द 'रेतु' स्त्री-लिंग है, लेकिन फिर भी इसके अंत में (ु) टिका रहता है]। *नोट :* परमात्मा के नाम की बातें मानो खाँड है, जो जो जीव सुनता है, उसको मीठी लगती है। लेकिन जो लोग सिर्फ़ दूसरों को ही शिक्षा देने वाले हैं, उनके लिये यह शब्द मानो सिर्फ़ रेत है, उनको स्वयं कोई रस नहीं आता। बिरानी—बेगानी, दूसरों की। रासि—पूँजी। राखते—रक्षा करने का यत्न करते हैं। खेतु—फ़सल, पिछली की हुई कमाई, पिछले सारे गुण।

अर्थ : हे कबीर ! जो (साध) सिर्फ़ दूसरों को उपदेश देते हैं, लेकिन उनके अपने अन्दर कोई रस नहीं आता, ऐसे (साध) दूसरों की राशि-पूँजी की तो रक्षा करने का यत्न करते हैं, लेकिन अपने पिछले सारे गुण समाप्त कर लेते हैं (ऐसे 'साध' भी कमज़ोर डालियाँ हैं, मानवता की चोटी पर ये भी पहुँचा नहीं सकते)।९८।

कबीर साधू की संगति रहउ, जउ की भूसी खाउ ॥
होनहारु सो होइ है, साकत संगि न जाउ ॥९९॥

पद अर्थ : भूसी—भूसा। जउ—जौं।

अर्थ : हे कबीर ! (कहो—मेरी तो यह इच्छा है कि) मैं गुरमुखों की संगति में टिका रहूँ (चाहे मेरी किरत-कमाई बहुत ही कम हो जाये) तथा मैं जौं का भूसा खाकर गुज़ारा करूँ। (साध-संगति में समय देने के कारण ग़रीबी आदि) जो कष्ट भी आये, आता रहे। लेकिन मैं परमात्मा से टूटे हुये लोगों की संगति में न जाऊँ।९९।

कबीर संगति साध की, दिन दिन दूना हेतु ॥
साकत कारी कांबरी, धोए होइ न सेतु ॥१००॥

पद अर्थ : दिन दिन—दिन-प्रति-दिन, जैसे जैसे दिन गुज़रते हैं।

हेतु—(प्रभु के साथ) प्यार। कारी—काली। कांबरी—कंबली। धोए—धोने से। सेतु—सफ़ेद।

अर्थ : हे कबीर ! गुरमुखों की संगति में रहने से दिन-प्रति-दिन परमात्मा के साथ प्यार बढ़ता ही बढ़ता है। लेकिन परमात्मा से टूटा हुआ मनुष्य, मानो काली कंबली है जो धोने पर भी कभी सफ़ेद नहीं होती (उसकी संगति में रहने से मन की पवित्रता नहीं मिल सकती) ।१००।

कबीर मनु मूंडिआ नही, केस मुंडाए कांइ ॥
जो किछु कीआ सो मन कीआ, मूंडा मूंडु अजांइ ॥१०१॥

पद अर्थ : मूंडिआ—मूँड़ने से। कांइ—किसके लिये ? व्यर्थ ही। मूंडु—सिर। अजांइ—बेफ़ायदा।

नोट : श्लोक अंक ९७ वाली कमज़ोर डालियों की ओर फिर संकेत है, ऐसे 'साध' कमज़ोर साधन हैं।

अर्थ : हे कबीर ! (यह जो सिर मूँड़ाकर अपने आप को 'साध' समझता फिरता है, इसने) अपना मन नहीं मूँड़ा (मन से विकारों की मैल दूर नहीं की) सिर के केश मूँड़ाने से यह 'साधु' नहीं बन गया। जिस भी बुरे कर्म की प्रेरणा करता है, मन ही करता है। (यदि 'साधु' बनने के लिये ही सिर मूँड़ाया है तो) सिर मूँड़ाना व्यर्थ है।१०१।

श्लोक अंक १०२ से १३१ तक :

कबीर रामु न छोडीऐ, तनु धनु जाइ त जाउ ॥
चरन कमल चितु बेधिआ, रामहि नामि समाउ ॥१०२॥

पद अर्थ : जाइ—(यदि) जाता है, (यदि) नष्ट होता है। त—तो। जाउ—[व्याकरण अनुसार आज्ञा-भविष्यत्, एक-वचन, अन्य-पुरुष Imperative mood, Third person, Singular Number] बेशक जाये, बेशक नष्ट हो जाये, कोई परवाह नहीं, नष्ट हो जाये। बेधिआ—बिधा (रहे)। रामहि नामि—राम के नाम में [रामहि—रामस्य रामस्]। समाउ—समाया रहे [आज्ञा-भविष्यत्, अन्य-पुरुष, एक-वचन]।

अर्थ : हे कबीर ! परमात्मा का नाम कभी न भुलायें, (यदि नाम सिमरन से हमारा) शरीर तथा धन नष्ट होने लगे तो बेशक नष्ट हो जाये, लेकिन हमारा चित्त प्रभु के सुन्दर चरणों में ज़रूर लगा रहे, परमात्मा के नाम में ज़रूर समाया रहे।१०२।

कबीर जो हम जंतु बजावते, टूटि गई सभ तार ।।
जंतु बिचारा किआ करै, चले बजावनहार ।।१०३।।

पद अर्थ : जंतु—यंत्र, बाजा, शरीर का मोह। टूटि गई—टूट गई हैं। तार—(मोह की) तारें, शारीरिक-मोह की तारें। किआ करै—कोई ज़ोर नहीं डाल सकता। बजावनहार—बजाने वाला, यंत्र (ढोल, बाजे) को बजाने वाला। शारीरिक-मोह के ढोल को बजाने वाला, जो मन शरीर का मोह रूप-बाजा बजा रहा था।

नोट : यही ख़याल कबीर जी आसा राग के शब्द अंक १८ में इस प्रकार ज़ाहिर करते हैं :

बजावनहारो कहा गइओ, जिनि इहु मंदरु कीना ।।
साखी सबदु सुरति नही उपजै, खिंचि तेजु सभु लीन्हा ।।२।।

इसी राग के शब्द अंक २८ में भी इसी ख़याल को इस प्रकार लिखते हैं :

जउ मै रूप कीए बहुतेरे, अब फुनि रूपु न होई ।।
तागा तंतु साजु सभु थाका, राम नाम बसि होई ।।१।।
अब मोहि नाचनो न आवै ।।
मेरा मनु मंदरीआ न बजावै ।।१।।रहाउ।।

अर्थ : ('तनु धनु' जाने पर भी यदि मेरा मन 'रामहि नामि' समाया रहे तो यह सौदा बहुत सस्ता है, क्योंकि) हे कबीर ! (परमात्मा के नाम को छोड़कर) शारीरिक-मोह का जो बाजा मैं सदा बजाता रहता था (अब नाम-सिमरन की बरकत से) उसकी (मोह की) सारी तारे टूट गई हैं। (शारीरिक-मोह का यह) बेचारा बाजा (अब) क्या कर सकता है ? अर्थात, नाम की बरकत से शारीरिक-मोह मात पड़ गया है। (शारीरिक-मोह की

तो कया बात है) वह मन ही नहीं रहा जो शारीरिक-मोह का बाजा बजा रहा था।१०३।

कबीर माइ मूंडउ तिह गुरू की, जा ते भरमु न जाइ ।।
आप डुबे चहु बेद महि, चेले दीए बहाइ ।।१०४।।

पद अर्थ : माइ मूंडउ—माँ (का सिर) मूँड़ दूँ। तिह—उस। जा ते—जिसके पास रहकर, जिससे, जिसके बताये रास्ते पर चलकर। भरमु—मन की भटकना, शारीरिक-मोह रूप भ्रम, शारीरिक-मोह। न जाइ—दूर न हो जाये। दीए बहाइ—बहा दिये।

अर्थ : (यह पंडित मुझे परमात्मा के नाम में जुड़ने से रोकता है तथा अपने वेद आदि धर्म-पुस्तकों के कर्म-काण्ड का ढोल बजाकर मेरा गुरु पुरोहित बनना चाहता है; लेकिन) हे कबीर ! मैं ऐसे गुरु की माँ का सिर मूँड़ दूँ, इसके रास्ते पर चलने से (शारीरिक-मोह की) भटकना दूर नहीं हो सकती। ये लोग स्वयं भी चारों वेदों (के कर्म-काण्ड) में पड़कर (शारीरिक-मोह के गहरे पानी में) डूबे हुये हैं, जो जो लोग इनके पीछे लगते हैं, उनको भी इन्होंने उसी मोह में बहा दिया है।१०४।

कबीर जेते पाप कीए, राखे तलै दुराइ ।।
परगट भए निदान सभ, जब पूछे धरमराइ ।।१०५।।

पद अर्थ : जेते—जितने भी। तलै—नीचे, अपने अन्दर। दुराइ राखे—छिपाकर रखे। निदान—आख़िर।

अर्थ : (परमात्मा की याद को भुलाने से मनुष्य शारीरिक-मोह में पड़कर विकारों के रास्ते पर चल पड़ता है; तिलक, माला, पूजा, धोती आदि धर्म-भेष से लोग शायद प्रभावित हो जायें कि ये भक्त हैं, लेकिन प्रभु के नाम से दूर होकर) हे कबीर ! जो जो पाप किये जाते हैं (चाहे वे पाप) अपने अन्दर छिपाकर रखे जाते हैं, फिर भी जब धर्मराज पूछता है तो वे पाप आख़िर सारे प्रकट हो जाते हैं (अर्थात, वेद आदि का कर्म-काण्ड विकारों से नहीं बचा सकता, बाहरी धर्म-भेष से लोग तो चाहें प्रभावित हो जायें लेकिन अन्दर के पाप परमात्मा से छिपे नहीं रह सकते)।१०५।

नोट : अगले तीन श्लोकों में तीन उदाहरण देकर बताते हैं कि सिमरन छोड़कर दुनियाँ उलटे रास्ते पर चल पड़ती है। इसलिये "रामु न छोडीऐ, तनु धनु जाइ त जाउ"।

कबीर हरि का सिमरनु छाडि कै पालिओ बहुतु कुटंबु ॥
धंधा करता रहि गइआ, भाई रहिआ न बंधु ॥१०६॥

पद अर्थ : रहि गइआ—आत्मा रह जाती है, आत्मा बहुत ही कमज़ोर पड़ जाती है, आत्मा मर ही जाती है, जीव आत्मिक मौत मर जाता है। न रहिआ—कोई न रहा, कोई बचाने-योग्य नहीं होता, कोई पक्ष बचा नहीं सकता। छाडि कै—छोड़कर। पालिओ बहुतु—बहुत समय पालता रहा, (सारी उम्र यही काम करता रहा कि) निरा (कुटुंब) पालता रहा।

अर्थ : हे कबीर ! परमात्मा का सिमरन छोड़ने का ही यह नतीजा है कि मनुष्य सारी उम्र सिर्फ़ परिवार ही पालता रहता है, (परिवार की ख़ातिर) संसार के धंधे करता करता (तथा प्राणों के साथी परमात्मा से बिछुड़ा रहकर) आख़िर आत्मिक मौत मर जाता है, (इस आत्मिक मौत से) कोई भाई, कोई रिश्तेदार बचा नहीं सकता।१०७।

कबीर हरि का सिमरनु छाडि कै, राति जगावन जाइ ॥
सरपनि होइ कै अउतरै, जाए अपुने खाइ ॥१०७॥

पद अर्थ : जगावन जाइ—(श्मशान) जगाने जाती है।

नोट : हमारे देश में अनपढ़ता के कारण बहुत जहालत है, गाँवों में तो अंधेर पड़ा हुआ है। मुल्लाँ लोग कई तरह के जादू टूने तावीज़ बना-बनाकर देते हैं। जिन औरतों के घर संतान नहीं होती, आम तौर पर वही ये जादू तावीज़ करवाती फिरती हैं। संतानहीन स्त्रियाँ श्मशान-भूमि में जाकर, किसी नये जल रहे मुर्दे की चिता के पास विशेष टूना आदि कर नंगी नहाकर, रोटी पकाकर खाती हैं। इस सारे करतब के दो मनोरथ होते हैं—जिस की चिता के पास यह टूना किया जा रहा है, उनके बाल बच्चे मर जायें, दूसरा, टूना करने वाली के घर औलाद हो जाये।

नोट : धर्म तथा मज़हब के नाम पर अनपढ़ लोगों को आपस में

लड़ाकर, मरवाकर सदा अपना स्वार्थ पूरा किये जाना शराफ़त नहीं है। यह भेद बहुत दिन टिका नहीं रहेगा। अब तो देश में अपना राज्य है। गाँव गाँव में लड़कों और लड़कियों के स्कूल खोलकर अनपढ़ता दूर करो तथा लोगों को धर्म की सही सूझ दो।

अउतरै—उतरती है, पैदा होती है। सरपनि—नागिन। होइ कै—बनकर। अपुने जाए—अपने पैदा हुये बच्चे। खाइ—खाती है।

अर्थ : हे कबीर ! (परमात्मा के सिमरन के बिना ही कोई मूर्ख संतानहीन औरत) रात को श्मशान जगाने के लिये (श्मशान-भूमि में) जाती है। (लेकिन बुरे कर्मों से सुख कहाँ ?) ऐसी स्त्री मानव-जन्म को हाथ से गँवाने के बाद) नागिन बनकर जन्म लेती है तथा अपने ही बच्चे खाती है।१०७।

कबीर हरि का सिमरनु छाडि कै, अहोई राखै नारि ।।
गदही होइ कै अउतरै, भारु सहै मन चारि ।।१०८।।

नोट : एक निरक्षरता, दूसरा परमात्मा को छोड़कर अन्य अन्य देवी-देवताओं, मढ़ी मसानों की पूजा तथा कई तरह के व्रतों ने भारत की स्त्री-जाति को नकारा बना दिया है। चेत्र में तथा कार्तिक में इन व्रतों की भरमार होती है—करवा चौथ, महा-लक्ष्मी, नवरात्रि आदि कई व्रत हैं जिनके द्वारा हिन्दु औरत कई तरह की मन्नतें मानती रहती है। गुरु नानक पातशाह ने सिक्ख स्त्री को इस जहालत भरी ग़ुलामी में से निकालने की कोशिश की थी लेकिन जब तक देश में अनपढ़ता है, औरतों का तो क्या कहना, आदमी भी मुर्खता करते फिरते हैं, सिक्ख मर्द गुरु-पर्व भुलाकर अमावस्या, संक्रान्ति तथा पूर्णिमा मनाते फिरते हैं। औरतें करवा चौथ का व्रत रखकर पतियों के सगुन मना रही हैं।

पद अर्थ : अहोई—कार्तिक के महीने में शीतला देवी की पूजा का व्रत। देवी देवताओं की ख़ास ख़ास सवारी मानी गई है, जैसे गणेश की सवारी चूहा, ब्रह्मा की सवारी हंस, शिव की सवारी सफ़ेद बैल, दुर्गा की सवारी शेर, इसी तरह शीतला की सवारी गधा।

गदही—गधा। मन चारि—चार मण।

अर्थ : हे कबीर ! ("रामु न छोडीऐ, तनु धनु जाइ त जाउ" नहीं तो) राम नाम छोड़ने का ही यह नतीजा है कि (मूर्ख) स्त्री शीतला का व्रत रखती फिरती है। (तो, यदि शीतला उसे बहुत ही प्यार करेगी तो उसको हर समय अपने पास रखने के लिये अपनी सवारी गधी बना लेगी।) सो, वह मुर्ख स्त्री गधी बनकर पैदा होती है तथा चार मण भार ढोती है।१०८।

कबीर चतुराई अति घनी, हरि जपि हिरदै माहि ।।
सूरी ऊपरि खेलना, गिरै त ठाहर नाहि ।।१०९।।

नोट : प्रभु-चरणों से बिछुड़े मनुष्य को संसार के कई सहम सताते रहते हैं—दुःख-क्लेश, रोग, ग़रीबी, लोक-लाज, ईर्ष्या-द्वेष, कई किस्म की अधीनता आदि। इनसे बचने के लिये कहीं यह बेचारा छिपकर पाप करता है, कहीं संतान की ख़ातिर श्मशान जगाये जाते हैं, कहीं व्रत रखे जाते हैं, कहीं तीर्थों की ओर दौड़-भाग हो रही है। फिर भी सुख नहीं है, सहम ही सहम है। ये सारी बुद्धिमत्ता व्यर्थ जा रही है।

इनका इलाज एक ही है। प्रभु से वियोग के कारण ये दुःख हैं। सिर्फ़ वियोग दूर करना है, प्रभु के चरणों में जुड़ना है। लेकिन सिर्फ़ 'राम राम' कहने को सिमरन नहीं कहा जाता। इस दारू के साथ कई परहेज़ भी हैं—चसके, शारीरिक-मोह, जाति-अभिमान, पर-निन्दा, कुसंग, व्रत आदि के भ्रम, संक्रान्ति-अमावस्या की भटकना, नाक रखने की ख़ातिर की जा रही व्यर्थ रस्में—ऐसे कई काम हैं जो जब तक छोड़े न जायें, सिमरन अपना जौहर नहीं दिखा सकता। लेकिन इन सब का त्याग कोई आसान काम नहीं है, कहीं अपना ही बिगड़ा हुआ मन रोकता है तथा कहीं लोक-लाज रुकावट बन जाती है। इसलिये सिमरन करना बहुत कठिन काम है, सूली पर चढ़ने के समान है। लेकिन सिमरन के बिना और कोई रास्ता भी नहीं है जिस पर चलकर मानवता की चोटी पर पहुँचा जा सके।

पद अर्थ : ठाहर—स्थान, आसरा।

अर्थ : हे कबीर ! (दुनियाँ के सहम, भ्रम-वहम आदि से बचने के लिये) सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता यही है कि परमात्मा का नाम हृदय में

याद कर। (लेकिन) यह सिमरन करना कोई आसान कार्य नहीं है; (जाति-अभिमान, निंदा, कुसंग, चसके, व्रत आदि भ्रम छोड़ने पड़ते हैं, सो) प्रभु का सिमरन सूली पर चढ़ने के समान है, इस सूली से गिरने पर, (अर्थात, सिमरन का यह अत्यन्त कठिन मार्ग छोड़ने पर भी) गति नहीं, क्योंकि सिमरन के बिना (दुनियाँ के दुःख, क्लेश तथा भय से बचने के लिये) अन्य कोई आसरा भी नहीं है) ।१०९।

कबीर सुोई मुखु धंनि है, जा मुख कहीऐ रामु ॥
देही किस की बापुरी, पवित्रु होइगो ग्रामु ॥११०॥

पद अर्थ : सुोई—अक्षर 'स' के साथ दो मात्रायें हैं—(ो) तथा (ु)। असल शब्द सोई है, यहाँ श्लोक की चाल पूरी रखने के लिये 'सुई' पढ़ना है। (ो) 'ओ' की दो मात्रायें होती हैं, यहाँ एक मात्रा घटाकर इसको (ु) पढ़ना है। धंनि—भाग्यशाली, धन्य। देही—शरीर। बापुरी—बेचारी। ग्रामु—गाँव।

अर्थ : (इसलिये) हे कबीर ! वह मुख धन्य है जिस मुख से राम के नाम का उच्चारण किया जाता है, उस शरीर बेचारे की क्या बात है ? उस शरीर का पवित्र होना तो एक छोटी-सी बात है, सिर्फ़ वह शरीर तो क्या, वह सारा गाँव ही पवित्र हो जाता है (जहाँ रहता हुआ मनुष्य नाम-सिमरन करता है) ।११०।

कबीर सोई कुल भली, जा कुल हरि को दासु ॥
जिह कुल दासु न ऊपजै, सो कुल ढाकु पलासु ॥१११॥

पद अर्थ : ऊपजै—[Skt. जन्, with उप, उपजन—to become visible, to appear, to grow प्रकट होना, बनना] प्रकट होना।

अर्थ : हे कबीर ! जिस कुल में परमात्मा का सिमरन करने वाला भक्त प्रकट हो जाये, वह कुल भली है। जिस कुल में प्रभु की भक्ति करने वाला इंसान प्रकट नहीं होता, वह कुल ढाक, पलास जैसे बेकार वृक्षों जैसी निष्फल जानो।१११।

कबीर है गइ बाहन सघन घन, लाख धजा फहराहि ॥
इआ सुख ते भिख्या भली, जउ हरि सिमरत दिन जाहि ॥११२॥

पद अर्थ : है—हय, घोड़े। गइ—गय, गज, हाथी। बाहन—सवारी (करने के लिये) वाहन। सघन घन—अनंत। धजा—ध्वज, झंडा। फहराहि—हवा में झूलें, फहरायें। भिख्या—भिक्षा, फ़कीर साधुओं द्वारा गृहस्थियों के दर पर मांगा गया अन्न। (अक्षर 'ख' के नीचे आधा 'य' है)। जउ—यदि। जाहि—जायें, गुज़रें। ते—से।

नोट : अभी "हरि का सिमरनु छाडि कै" वाला ख़याल चला आ रहा है।

अर्थ : हे कबीर ! यदि सवारी करने के लिये अनंत घोड़े तथा हाथी हों, यदि (महलों पर) लाखों झंडे झूलते हों (इतना तेज-प्रताप भी हो, लेकिन परमात्मा के नाम के बिना यह राज्य-भाग किसी काम का नहीं है)। यदि परमात्मा का सिमरन करते हुये (ज़िन्दगी के) दिन गुज़र जाएं तो उस (सिमरनहीन राज्य-भाग के) सुख से भिक्षा भली है (जो लोगों के दर से मांगकर फ़कीर खाते हैं)।११२।

कबीर सभु जगु हउ फिरिओ, मांदलु कंध चढाइ ॥
कोई काहू को नही, सभ देखी ठोकि बजाइ ॥११३॥

पद अर्थ : मांदलु—ढोल। कंध—कंधों पर। चढाइ—रखकर। काहू को—किसी का। सभ—सारी (सृष्टि)। ठोकि बजाइ—अच्छी तरह परख-कर, ठोक बजाकर।

नोट : वही ख़याल चला आ रहा है।

अर्थ : हे कबीर ! ढोल कंधों पर रखकर मैं (बजाता फिरता रहा हूँ तथा) सारा जगत् भ्रमण कर चुका हूँ, (मैं पूछता रहा कि बताओ, भाई ! इस राज्य-भाग, महल-मंडप, सगे-संबंधियों में से कोई अंत तक निभने वाला साथी भी किसी ने देखा है; मगर किसी ने हामी नहीं भरी, सो) सारी सृष्टि मैंने ठोक बजाकर देख ली है, कोई भी किसी का (अंत तक साथ देने वाला साथी) नहीं है। (असल साथी सिर्फ़ परमात्मा का नाम है, इसलिये "रामु न छोडीऐ, तनु धनु जाइ त जाउ")।११३।

मारगि मोती बीथरे, अंधा निकसिओ आइ ॥
जोति बिना जगदीस की, जगतु उलंघे जाइ ॥११४॥

पद अर्थ : मारगि—रास्ते में। बीथरे—बिखरे हुये हैं। निकसिओ आइ—आ निकला है। जोति—ज्योति, प्रकाश। जगदीस—जगत + ईस, जगदीश, जगत् का स्वामी, प्रभु। उलंघे जाइ—लांघता जा रहा है, उन मोतियों को पैरों के नीचे दिये जा रहा है।

अर्थ : (परमात्मा के गुण मानो) मोती (हैं, जो इंसानी ज़िन्दगी के सफ़र के) रास्ते में बिखरे हुये हैं (अर्थात, इन मोतियों को लेने के लिये कोई धन-पदार्थ ख़र्च नहीं करना पड़ता, लेकिन यहाँ ज्ञान-हीन) अंधा मनुष्य आ निकला है। परमात्मा की दी हुई (ज्ञान की) ज्योति के बिना जगत् इन मोतियों को पैरों के नीचे कुचलता हुआ चला जा रहा है (मनुष्य परमात्मा के गुण-कीर्तन के महत्त्व को नहीं समझता, प्रभु स्वयं ही कृपा करे तो यह जीव गुण गा सकता है)।११४।

बूडा बंसु कबीर का, उपजिओ पूतु कमालु ॥
हरि का सिमरनु छाडि कै, घरि ले आया मालु ॥११५॥

नोट : श्लोक अंक १०७, १०८ पढ़कर देखें, अभी वही ख़याल चला आ रहा है। अभी वही लफ़्ज़ "हरि का सिमरनु छाडि कै" प्रयुक्त किये जा रहे हैं। श्लोक अंक ११२, ११३ में भी वही बात कही है कि सिमरन के बिना यह राज्य-भाग भी व्यर्थ हैं। ये श्लोक भी उसी सिलसिले में है।

नोट : कबीर जी की बहुत सारी वाणी ऐसी है जिसमें गहरी रमजें हैं, लेकिन हमारे कई टीकाकार इन कठिन घाटियों को कहानियाँ गढ़ गढ़कर लांघते आये हैं। कहानियाँ गढ़ते समय कई बार इस बात का भी ख़याल नहीं रहा कि इस कहानी के आधार पर किये गये अर्थ हमारे मौजूदा इंसानी जीवन के साथ मेल खाते हैं या नहीं। कबीर का अपनी पत्नी लोई के साथ ग़ुस्सा हो जाना, नामदेव का मुग़ल को परमात्मा कहना—ऐसी कई निराधार कथा-कहानियाँ इस समय सिक्ख प्रचारक सुना देते हैं जो असल में सिक्ख धर्म के आशय के बिलकुल विरुद्ध जाती हैं।

लेकिन इस मौजूदा श्लोक में तो कबीर जी के साथ एक बे-इंसाफ़ी भी की गई है। अपने कच्चे तथा कमज़ोर अर्थों की मज़बूती के लिये कहानियाँ गढ़ने वालों ने यह अनुमान लगाया है कि कबीर जी का पुत्र (जिसका नाम ये लोग 'कमालु' बता रहे हैं) किसी लालच में फंसकर कुछ 'माल' घर ले आया था, तथा कबीर जी ने उसकी इस करतूत की आलोचना इस श्लोक में की है। कुछ इसी तरह ही गउड़ी राग के एक छंत में शब्द 'मोहन' देखकर कहानियाँ गढ़ने वालों ने बाबा मोहन की सैंचियों की कहानी गुरु अर्जुन देव जी के साथ जोड़ दी (इसके बारे में पढ़ें मेरी पुस्तक *गुरबाणी ते इतिहास बारे* के पहले तीन लेख)। इस प्रकार के अर्थहीन अंदाज़े लगाने कई बार महापुरुषों के निरादर के समान हो जाते हैं।

हम पहले बता आये हैं कि कबीर जी के कई शब्द देखने में तो साधारण प्रतीत होते हैं लेकिन उनमें बहुत गहरा विचार हुआ करता है। उदाहरण के तौर पर:

(१) **सोरठि :**

घसि कुंकम चंदनु गारिआ ॥
बिनु नैनहु जगतु निहारिआ ॥
पूति पिता इकु जाइआ ॥
बिनु ठाहर, नगरु बसाइआ ॥२॥६॥

इसका अर्थ: पूति—पुत्र ने।

जिस पुत्र (जीवात्मा) ने घाल कमाई कर अपने प्राणों को प्रभु में मिला दिया है, उसने अपनी आँखों को जगत्-तमाशों की तरफ़ से हटाकर जगत् (की असलीयत) को देख लिया है, पहले वह सदा बाहर भटकता था, अब (उसने अपने अंदर मानो) शहर बसा लिया है (अर्थात, उसके अंदर वह सुन्दर गुण पैदा हो गये हैं कि अब वह बाहर नहीं भटकता) ।२।

(२) **बसंत :**

जोइ खसमु है जाइआ ॥ पूति बापु खेलाइआ ॥
बिनु स्रवणा खीरु पिलाइआ ॥१॥

देखहु लोगा कलि का भाउ ॥
सुति मुकलाई अपनी माउ ॥१॥रहाउ॥३॥

इसका अर्थ : हे लोगो! देखो, कलयुग का अजीब प्रभाव पड़ रहा है (अर्थात, प्रभु से बिछुड़ने के कारण जीव पर दबाव पड़ रहा है), मन रूप पुत्र ने अपनी माँ (माया) को विवाह लिया है।रहाउ।

स्त्री ने ख़सम को जन्म दिया है (अर्थात, जिस मन को माया ने जन्म दिया है, वही इसका भोगने वाला बन जाता है, इसका ख़सम बन जाता है), मन-पुत्र ने पिता-जीवात्मा को खेलने में लगाया हुआ है, (यह मन) स्तनों के बिना ही (जीवात्मा को) दूध पिला रहा है (अर्थात, नाशवान् पदार्थों के स्वाद में डाल रहा है)।१।

इस तरह इस श्लोक अंक ११५ में भी 'पूत' का अर्थ है 'मन'।

पद अर्थ : बूडा—डूब गया (समझो)। बंसु—ख़ानदान, कुल, वंश (आँख, कान, नाक आदि सारी ही ज्ञानेन्द्रियाँ) परिवार। उपजिओ—[देखें श्लोक अंक १११] प्रकट हो गया, इस हालत में पहुँच गया। पूतु—पुत्र, मन। कमालु—कामल, लायक, अजब-लायक (अर्थात, नालायक, मूर्ख)। घरि—घर में, हृदय में, अपने अंदर। मालु—धन, धन की लालसा, माया का मोह (इस भाव को समझने के लिये पढ़ें श्लोक अंक ११२ तथा ११३)।

अर्थ : ("है गइ बाहन सघन घन" तथा "लाख धजा" में से "कोई काहू को नही"—यह बात मैंने देखी "डिठी ठोकि बजाइ" फिर भी) यदि मेरा मूर्ख मन ऐसी (निम्न) अवस्था पर आ पहुँचा है कि परमात्मा का सिमरन छोड़कर अपने अंदर माया का मोह बसा रहा है तो मैं—कबीर का सारा ही परिवार (आँख, कान, नाक आदि सभी इन्द्रियों का टोला विकारों में ज़रूर) डूब गया जानो।११५।

कबीर साधू कउ मिलने जाईऐ, साथि न लीजै कोइ ॥
पाछै पाउ न दीजीऐ, आगै होइ सु होइ ॥११६॥

पद अर्थ : साधू—भला मनुष्य, जिसने अपने मन को साधा हुआ है, गुरमुख। आगै—साधु की ओर जाते हुये, किसी गुरमुख के सम्मुख रहते। होइ सु होइ—यदि कोई कठिनाई भी हो तो होती रहे।

अर्थ : हे कबीर ! ("रामु न छोडीऐ, तनु धनु जाइ त जाउ", लेकिन प्रभु का नाम सिर्फ़ उनको मिलता है जिन्होंने अपने मन को साध कर रखा हुआ है, जो स्वयं साधु हैं; सो, साधु की संगति करनी चाहिये, लेकिन) यदि किसी साधु गुरमुख के दर्शन करने जायें तो किसी को अपने साथ नहीं ले जाना चाहिये (जाने के लिये किसी साथ का इंतज़ार नहीं करना चाहिये, कोई आसरा नहीं ढूँढ़ना चाहिये। यह न हो कि कोई ममता के बंधन में पड़ा साथी देर ही करा दे)। किसी गुरमुख का दीदार करने के लिए जाने पर पैर पीछे न रखें, (कभी आलस्य न करें) बल्कि उधर जाते हुये यदि कोई कठिनाई भी आये तो आती रहे।११६।

कबीर जगु बाधिओ जिह जेवरी, तिह मत बंधहु कबीर ।।
जै हहि आटा लोन जिउ, सोन समानि सरीरु ।।११७।।

नोट : किसी साधु गुरमुख की संगति में जाते समय क्यों किसी साथी का इंतज़ार नहीं करना—यह बात इस श्लोक में समझाई है कि आम तौर पर प्रत्येक जीव ममता में बंधा हुआ है, आसरे ढूँढ़ते समय कहीं यह न हो कि ममता के मारे साथी द्वारा प्रेरित कर लिये जायें।

पद अर्थ : जिह जेवरी—जिस रस्सी के साथ, ममता की जिस रस्सी के साथ, माया-मोह की जिस रस्सी के साथ। तिह—उस रस्सी के साथ। मत बंधहु—बंध न जाना। जै हहि—तबाह हो जायोगे। आटा लोन जिउ—आटे नमक जैसे, सस्ते मूल्य में। सोन समानि—सोने जैसा, बहु-मूल्य। सरीरु—मानव-शरीर।

अर्थ : हे कबीर ! माया-मोह की जिस रस्सी से जगत् (का प्रत्येक जीव) बंधा हुआ है, उस रस्सी से अपने आप को बंधन में मत पड़ने देना। यह सोने जैसा (कीमती) मानव-शरीर (मिला) है (यदि तू मोह की रस्सी में बंधकर, गुरमुखों की संगति से दूर रहकर परमात्मा का सिमरन छोड़ बैठा, तो) सस्ते मूल्य में वैसे ही तबाह हो जायेगा।११७।

कबीर हंसु उडिओ तनु गाडिओ, सोझाई सैनाह ।।
अजहू जीउ न छोडई, रंकाई नैनाह ।।११८।।

पद अर्थ : हंसु—जीवात्मा। उडिओ—उड़ना चाहता है, शरीर को छोड़ने की तैयारियों में है। तनु गाडिओ—तन तथा प्राणों का बिछोह होने को है। सोझाई—सूझ। सैनाह—संकेतों से। रंकाई—कंगालता, नीचता। नैनाह—नैनों की, आँखों की।

अर्थ : (यह ममता की ज़ंजीर कोई साधारण-सा जकड़-बंद नहीं होता) हे कबीर ! (परमात्मा के सिमरन से हीन माया-मोह की रस्सी में बंधे हुये लोगों का हाल यदि तूने समझना है तो देख कि मौत सिर पर आ पहुँचती है), जीवात्मा (शरीर में से) निकलने को होता है, शरीर (आत्मा से बिछुड़ने पर) ढह-ढेरी होने वाला होता है, फिर भी मोह की जेवड़ी (रस्सी) से बंधा हुआ जीव संकेतों से ही (पिछले संबंधियों को) समझाता है, (उस समय प्रभु याद नहीं आता), अभी भी जीव आँखों की कंगालता नहीं छोड़ता।११८।

कबीर नैन निहारउ तुझ कउ, स्रवन सुनउ तुअ नाउ ॥
बैन उचरउ तुअ नाम जी, चरन कमल रिद ठाउ ॥११९॥

पद अर्थ : नैन निहारउ—आँखों से मैं देखूँ। तुझ कउ—तुझे (हे प्रभु !)। स्रवन—कानों से। सुनउ—मैं सुनू। तुअ—तेरा। बैन—वचन, वचनों द्वारा। उचरउ—मैं उच्चारण करूँ। जी—हे प्रभु जी ! चरन कमल—कमल फूल जैसे सुन्दर तेरे चरण। ठाउ—स्थान।

अर्थ : हे कबीर ! (प्रभु-दर पर अरदास कर और कह—हे प्रभु ! तुझे बिसारकर जिस मोह-जेवड़ी से जगत् बंधा हुआ है तथा मरने के समय तक भी आँखों की कंगालता नहीं छोड़ता, कृपा कर, उस 'जेवड़ी' से बचने के लिये मैं अपनी आँखों से हर तरफ़) तेरा ही दीदार करता रहूँ, तेरा ही नाम मैं अपने कानों से सुनता रहूँ। (जीभ से) वचनों द्वारा मैं तेरे नाम का ही उच्चारण करता रहूँ, तथा तेरे सुन्दर चरणों को मैं अपने हृदय में स्थान दिये रखूँ।११९।

कबीर सुरग नरक ते मै रहिओ, सतिगुर के परसादि ॥
चरन कमल की मउज महि, रहउ अंति अरु आदि ॥१२०॥

कबीर चरन कमल की मउज को, कहि कैसे उनमान ॥
कहिबे कउ सोभा नही, देखा ही परवानु ॥१२१॥

कबीर देखि कै किह कहउ, कहे न को पतीआइ ॥
हरि जैसा तैसा उही, रहउ हरखि गुन गाइ ॥१२२॥

पद *अर्थ :* ते—से। रहिओ—बच गया हूँ। परसादि—कृपा से। मउज— मौज, उमंग। अंति अरु आदि—आरंभ से अंत तक, सदा ही।१२०।

मउज को—लहर का, उमंग का। कहि—कहे, बताये। कैसे—कैसे ? उनमान—[Skt. उन्मान measuring, price] तोल, अंदाज़ा, कीमत। कहिबे कउ—बयान करने से। परवानु—प्रमाणिक, मानने योग्य।१२१।

किह—क्या। कहउ—मैं कहूँ। पतीआइ—तसल्ली होती, आनंद आता। रहउ—मैं रहता हूँ। हरखि—हर्ष में, ख़ुशी में। गाइ—गाकर।१२२।

अर्थ : हे कबीर ! मैं तो सदा ही परमात्मा के सुन्दर चरणों की याद की उमंग में रहता हूँ, (तथा इस तरह) अपने सतिगुरु की कृपा से मैं स्वर्ग (की लालसा) तथा नरक (के डर) से बच गया हूँ।१२०।

(लेकिन) हे कबीर ! प्रभु के सुन्दर चरणों में टिके रहने की उमंग का अंदाज़ा कोई कैसे बता सकता है ? (रसना से) उस मौज का बयान करना जचता नहीं; वह आनंद कितना है ?—यह तो वह आनंद लेने से ही तसल्ली होती है।१२१।

हे कबीर ! उस प्रभु का दीदार कर, मैं बता भी कुछ नहीं सकता, तथा बताने से किसी को तसल्ली भी नहीं हो सकती (क्योंकि जगत् में कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसकी ओर संकेत कर कहा जा सके कि परमात्मा इस जैसा है), परमात्मा अपने जैसा आप ही है; (मैं तो सिर्फ़ यह कह सकता हूँ कि) उसके गुण गा-गाकर मैं मौज में टिका रहता हूँ।१२२।

कबीर चुगै चितारै भी चुगै, चुगि चुगि चितारे ॥
जैसे बचरहि कूंज, मन माइआ ममता रे ॥१२३॥

पद *अर्थ :* चुगै—(चोगा) चुगती है। चितारै—(अपने बच्चों को) याद करती है। भी—फिर। चुगि चुगि चितारे—चुग-चुगकर (बच्चों को)

याद करती है, चोगा भी चुगती जाती है, (तथा बच्चों को) याद भी करती है। बचरहि—बच्चों में। ममता—यह ख़याल कि (माया) मेरी बन जाये, मलकीयत की चाह। रे—हे भाई !

अर्थ : हे कबीर ! कूंज चोगा चुगती है तथा अपने बच्चों को भी याद करती है, दुबारा चुगती है, 'चोगा' भी चुगती है तथा बच्चों को याद भी करती है। जैसे कूंज का ध्यान हर समय अपने बच्चों में रहता है वैसे ही हे भाई ! ("हरि का सिमरनु छाडि कै") मनुष्य का मन माया की प्राप्ति की चाह में टिका रहता है।१२३।

कबीर अंबर घनहरु छाइआ, बरखि भरे सर ताल ॥
चात्रिक जिउ तरसत रहै, तिन को कउनु हवालु ॥१२४॥

पद अर्थ : अंबर—आकाश, आसमान। घनहरु—बादल। छाइआ—बिखर गये, छा गये। बरखि—बरसकर। सर ताल—सरोवर, तालाब। चात्रिक—पपीहा। रहै—रहे, रहते हैं। कउनु हवालु—(अर्थात,) बुरा ही हाल।

अर्थ : हे कबीर ! (वर्षा ऋतु में) बादल आकाश में (चारों तरफ़) छा जाते हैं, बरसकर (छोटे बड़े सभी) सरोवर तालाब भर देता है (लेकिन पपीहा फिर भी वर्षा की बूँद को तरसता तथा कूकता रहता है)। (परमात्मा सारी सृष्टि में व्यापक है, लेकिन माया की ममता में फंसे हुये जीव उसका दर्शन नहीं कर सकते) ("हरि का सिमरनु छाडि कै") वे पपीहे की तरह तरसते हैं तथा उनका सदा बुरा हाल ही रहता है।१२४।

कबीर चकई जउ निसि बीछुरै, आइ मिलै परभाति ॥
जो नर बिछुरे राम सिउ, न दिन मिले न राति ॥१२५॥

पद अर्थ : चकई—चकवी [*नोट :* आम ख़याल है कि चकवी अपने साथी चकवे से सारी रात बिछुड़ी रहती है। एक दूसरे की याद में कूकते हैं लेकिन मिल नहीं सकते। प्रातःकाल होते ही फिर मिल जाते हैं।] जउ—जब। निसि—रात के समय। परभाति—सूर्य निकलने से पहले। सिउ—से।

अर्थ : हे कबीर ! चकवी जब रात को (अपने चकवे से) बिछुड़ती है तो सुबह फिर आ मिलती है (रात का अंधेरा इन दोनों के मिलाप के रास्ते में रुकावट बना रहता है, वैसे यह अंधेरा उनको अधिक से अधिक चार पहर ही वियुक्त कर सकता है। लेकिन माया की ममता का अंधेरा ऐसा नहीं, जो जल्दी समाप्त हो सके, यह तो जन्म-जन्मांतर समाप्त नहीं होता, इस अंधेरे के कारण) जो मनुष्य प्रभु से बिछुड़ते हैं, वे न दिन में मिल सकते हैं, न रात को।१२५।

कबीर रैनाइर बिछोरिआ, रहु रे संख मझूरि ॥
देवल देवल धाहड़ी, देसहि उगवत सूर ॥१२६॥

पद अर्थ : रैनाइर—[Skt. रत्नाकर—रत्नों की खान] समुद्र। मझूरि—(रैनाइर) माझ, समुद्र के बीच में ही। रहु—टिका रह। देवल—(देवालय—देव + आलय) देवते का घर, मंदिर, ठाकुर-द्वार। धाहड़ी—भयानक आवाज़। देसहि—देगा। सूर—सूर्य।

अर्थ : हे कबीर ! (कहो—) समुद्र से बिछुड़े हुये हे शंख ! समुद्र में ही टिका रह, नहीं तो हर रोज़ सुबह सूर्य निकलते ही प्रत्येक मंदिर में डरावनी (भयानक) आवाज़ करेगा (धाह मारेगा)।१२६।

नोट : प्रभु के चरणों से बिछुड़कर ममता का मारा हुआ जीव माया की ख़ातिर दर-दर पर ख़ुशामद करता फिरता है, यदि प्रभु के दर पर टिका रहे तो और और आशायें रखकर धक्के खाने से बच जाता है, तब तो ("कबीर रामु न छोडीऐ, तनु धनु जाइ त जाउ")।

कबीर सूता किआ करहि, जागु रोइ भै दुख ॥
जा का बासा गोर महि, सो किउ सोवै सुख ॥१२७॥

कबीर सूता किआ करहि, उठि कि न जपहि मुरारि ॥
इक दिन सोवनु होइगो, लांबे गोड पसारि ॥१२८॥

कबीर सूता किआ करहि, बैठा रहु अरु जागु ॥
जा के संग ते बीछुरा, ताही के संग लागु ॥१२९॥

पद अर्थ : सूता—(माया की ममता की नींद में) सोया हुआ। भै—(दुनियाँ के) डर, सहम। रोइ भै दुख—(*नोट :* देखें श्लोक अंक ७२) दुनियाँ के डर, सहम तथा दुःखों को दूर कर। (*नोट :* किसी को रो बैठने का भाव है किसी के साथ संबंध तोड़ लेना।) बासा—निवास, वास। गोर—कब्र, अंधेरी गहरी जगह, दुनियाँ के दुःखों तथा सहम से भरी हुई ज़िन्दगी। किउ—कैसे, क्यों ? किउ सोवै सुख—सुख से कैसे सो सकता है ? सुखी नहीं हो सकता।१२७।

उठि—सचेत होकर, होशियार होकर। कि—क्यों ? मुरारि—परमात्मा। पसारि—पसारकर। लांबे गोड पसारि—लंबे घुटने पसारकर, इस तरह बेफ़िकर होकर कि फिर कभी उठना ही नहीं।१२८।

जा के संग ते—जिस परमात्मा की संगति से। लागु—लगा रह, जुड़ा रह।१२९।

नोट : तीसरे श्लोक की अंतिम पंक्ति को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि 'सोने' से भाव है परमात्मा के चरणों से बिछुड़ना तथा 'जागने' से भाव है प्रभु की याद में जुड़ना।

अर्थ : हे कबीर ! (माया के मोह में) सोया हुआ (मस्त हुआ) क्या कर रहा है (क्यों व्यर्थ उम्र गँवा रहा है ?) प्रभु की याद में सचेत हो तथा (इस याद की बरकत से उन सांसारिक) सहमों तथा क्लेशों से मुक्ति प्राप्त कर (जो प्रभु-चरणों से बिछुड़ने पर आ घेरते हैं। तू समझता है कि मोह की नींद मीठी है लेकिन यह, मोह से पैदा हुये दुःखों, क्लेशों तथा सहमों के नीचे दबे रहना कब्र में रहने के समान है। यह दुःखों, क्लेशों से भरा जीवन सुखी जीवन नहीं है)। जिस मनुष्य का निवास सदा (ऐसी) कब्र में रहे, वह कभी भी सुखी जीवन जीता नहीं कहा जा सकता।१२७।

हे कबीर ! माया के मोह में मस्त होकर क्यों उम्र व्यर्थ गँवा रहा है ? इस मोह-नींद में से सचेत होकर क्यों परमात्मा का सिमरन नहीं करता ? एक दिन ऐसे बेबस होकर सोना पड़ेगा कि फिर उठा ही नहीं जा सकेगा (एक दिन सदा की नींद सोना पड़ेगा)।१२९।

हे कबीर ! माया के मोह में मस्त होकर क्यों उम्र व्यर्थ गँवा रहा

है ? सचेत हो, ममता की नींद के सुख से जाग। जिस प्रभु की याद से बिछुड़ा हुआ है (तथा ये दुःख क्लेश सह रहा है) उस प्रभु के चरणों में जुड़ा रह।१२९।

कबीर संत की गैल न छोडीऐ, मारगि लागा जाउ ॥
पेखत ही पुंनीत होइ, भेटत जपीऐ नाउ ॥१३०॥

पद अर्थ : गैल—रास्ता। संत की गैल—वह रास्ता जिस पर संत चल रहे हैं। मारगि—रास्ते पर। लागा जाउ—चलता रह। पुंनीत—पुनीत, पवित्र। भेटत—संगति करने से, पास बैठने से, भेंट करने से।

अर्थ : (लेकिन) हे कबीर ! (यदि "जा के संग ते बीछुरा, ताही के संग लागु" वाला उद्यम करना है तो) वह रास्ता न छोड़, जिस पर संत गुरमुख चलते हैं, उनके रास्ते पर चलते रहना चाहिये। संतों गुरमुखों का दर्शन करने से मन पवित्र हो जाता है, उनके पास बैठने से परमात्मा के नाम का सिमरन किया जाता है (सिमरन का शौक पैदा हो जाता है)।१३०।

कबीर साकत संगु न कीजीऐ, दूरहि जाईऐ भागि ॥
बासनु कारो परसीऐ, तउ कछु लागै दागु ॥१३१॥

पद अर्थ : साकत—परमात्मा से टूटे हुये मनुष्य। संगु—साथ। दूरहि—(साकत से) दूर ही। भागि जाईऐ—भाग जाना चाहिये। बासनु—बर्तन। कारो—काला। तउ—तो। कछु—कुछ, थोड़ा बहुत।

अर्थ : हे कबीर ! (यदि "जा के संग ते बीछुरा, ताही के संग लागु" वाला उद्यम करना है तो) परमात्मा से टूटे हुये मनुष्य की संगति नहीं करनी चाहिये, उससे दूर ही हट जाना चाहिये। (देख,) यदि किसी काले बर्तन को छुएं, तो थोड़ा बहुत दाग़ लग ही जाता है।१३१।

कबीरा रामु न चेतिओ, जरा पहूंचिओ आइ ॥
लागी मंदिर दुआर ते, अब किआ काढिआ जाइ ॥१३२॥

कबीर कारनु सो भइओ, जो कीनो करतार ॥
तिसु बिनु दूसरु को नही, एकै सिरजनहारु ॥१३३॥

पद अर्थ : जरा—बुढ़ापा। लागी—(आग) लग गई। मंदिर—घर। मंदिर दुआर ते—घर के द्वार से। अब—अब आग लगने पर। किआ काढिआ जाइ—क्या बचाया जा सकता है ? सब कुछ बचाया नहीं जा सकता।१३२।

कारनु—कारण, 'राम को याद करने' का कारण। सो भइओ—वही बनता है। एकै—एक ही।१३३।

अर्थ : हे कबीर ! (यदि "जा के संग ते बीछुरा, ताही के संग लागु" का उद्यम करना है, तो यह समय पर ही हो सकता है, साधारण तौर पर बुढ़ापे से पहले पहले ही यह उद्यम करना चाहिये, लेकिन यदि जवानी में) परमात्मा का भजन न किया, (ऊपर से) बुढ़ापा आ गया (इस उम्र तक माया के मोह में फंसे रहने से बहुत से बुरे संस्कार अंदर जमा होते गये, यह अब कैसे सिमरन की ओर प्रवृत्ति होने देंगे ?) यदि किसी घर को दरवाज़े की तरफ़ से ही आग लग जाये, तो उस समय (घर में से) बहुत कुछ (जलने से) बचाया नहीं जा सकता (इसी तरह यदि जवानी विकारों में गल जाये, तो बुढ़ापे में उम्र की गिनती के दिन होने के कारण जीवन को बहुत संवारा नहीं जा सकता)।१३२।

(लेकिन) हे कबीर ! (यदि सिमरन के बिना ही जवानी बीत गई है तथा बुढ़ापा आ जाने पर अब समझ आई है, तो भी निराश होने की ज़रूरत नहीं है, सिमरन प्रभु की अपनी बख़्शश (कृपा) है, जब दे, तब ही जीव सिमरन कर सकता है। जवानी हो या बुढ़ापा, सिमरन करने का कारण वही बनता है जो परमात्मा आप बनाये; (यह दाति किसी भी जीव के हाथ में नहीं है, यह अवसर देने वाला) उस परमात्मा के बिना अन्य कोई नहीं, केवल सृष्टि की रचना करने वाला आप ही यह कारण बनाने वाला है।१३३।

कबीर फल लागे फलनि, पाकन लागे आंब ॥
जाइ पहूचहि खसम कउ, जउ बीचि न खाही कांब ॥१३४॥

पद अर्थ : फल फलनि लागे—आमों को फल लगने लग जाते हैं। खसम कउ—बाग़ के मालिक के पास। जउ—यदि। बीचि—बीच में ही, पकने से पहले ही। कांब—कंपन, अंधेरी आदि के कारण शाख़ा से फल का हिल जाना।

नोट : बसंत ऋतु में आम के वृक्ष पर बूर आता है, आगे गर्मियाँ शुरू हो जाती हैं। पहले कच्चे फलों को तोते आदि पक्षी कुतर-कुतरकर खा जाते हैं, जब हवाएं आती हैं तब बहुत से फल झड़ जाते हैं, कई फल शाख़ाओं पर लगे तो रहते हैं लेकिन अन्धेरी से हिल जाने पर ऊपर से ही सूख जाते हैं। इन कई रुकावटों को पार कर जो पकते हैं, वही कबूल होते हैं। यही हाल मनुष्यों का है; जगत् के कई विकार इंसान को प्रभु से वियुक्त कर देते हैं, जो मनुष्य माया के सब आक्रमणों से बचकर पूरी श्रद्धा से प्रभु के दर पर टिके रहते हैं वे ही मालिक प्रभु की नज़रों में जचते हैं।

अर्थ : हे कबीर ! आम के पेड़ों को (पहले) फल लगते हैं, तथा (धीरे धीरे फिर वे) पकने शुरू होते हैं, पकने से पहले यदि ये आम (अन्धेरी आदि से टहनी से) हिल न जायें तो ही मालिक तक पहुँचते हैं।१३४।

कबीर ठाकुरु पूजहि मोलि ले, मन हठ तीरथ जाहि ॥
देखा देखी स्वांगु धरि, भूले भटका खाहि ॥१३५॥

कबीर पाहनु परमेसुरु कीआ, पूजै सभु संसारु ॥
इस भरवासे जो रहे, बूडे काली धार ॥१३६॥

कबीर कागद की ओबरी, मसु के करम कपाट ॥
पाहन बोरी पिरथमी, पंडित पाड़ी बाट ॥१३७॥

पद अर्थ : मोलि ले—ख़रीदकर, मोलकर। जाहि—जाते हैं। देखा देखी—एक दूसरे को (यह काम करते हुये) देखकर। स्वांगु धरि—स्वांग बनाकर, नकल करके। भटका खाहि—भटकते हैं।१३५।

पाहनु—पत्थर (की मूर्ति)। कीआ—कर लिया, बना लिया। इस भरवासे—इस यकीन में (कि यह परमात्मा है)। बूडे—डूब गये। काली धार—गहरे पानी में (*नोट :* समुद्र का पानी जैसे जैसे अधिक गहरा होता जायेगा, उसका रंग और काला दिखेगा)।१३६।

ओबरी—कैदख़ाने की कोठड़ी। कागद—(अर्थात, पंडितों के) धर्म-ग्रन्थ, धर्म-शास्त्र। मसु—स्याही। मसु के—स्याही से लिखे गये। करम—कर्म-काण्ड (की मर्यादा)। कपाट—किवाड़, पक्के दरवाज़े। बोरी—डूबो दी। पिरथमी—पृथ्वी, धरती के लोग। पाड़ी बाट—रास्ता फाड़ दिया, डाका मार लिया है। बाट—रास्ता।१३७।

अर्थ : हे कबीर ! जो लोग ठाकुर (की मूर्ति) मोल लेकर (उसकी) पूजा करते हैं तथा मन के हठ से तीर्थों पर जाते हैं, (असल में वे लोग) एक दूसरे को (यह काम करते हुये) देखकर स्वांग बनाते हैं, (इसमें असलीयत कुछ नहीं होती, सब कुछ लोगों में अच्छा कहलवाने के लिये ही किया जाता है, हृदय में परमात्मा के प्यार की कोई उमंग नहीं होती) सही रास्ते को छोड़कर ये लोग भटकते फिरते हैं।१३५।

हे कबीर ! (पंडितों के पीछे लगा हुआ यह) सारा जगत् पत्थर (की मूर्ति) को परमेश्वर मान रहा है तथा इसकी पूजा कर रहा है। जिन मनुष्यों का यह विचार बना हुआ है कि पत्थर को पूजकर वे परमात्मा की भक्ति कर रहे हैं, वे गहरे पानी में डूबे जानो (जहाँ उनकी कोई खोज-ख़बर नहीं लगेगी)।१३६।

हे कबीर ! (इन पंडितों के) शास्त्र मानो कैदख़ाना हैं, (इन शास्त्रों में) स्याही के साथ लिखी हुई कर्म-काण्ड की मर्यादा मानो उस कैदख़ाने के (बंद) दरवाज़े हैं। (इस कैदख़ाने में रखी) पत्थर की मूर्तियों ने धरती के लोगों को (संसार-समुद्र में) डूबो दिया है, पंडित लोग डाके मार रहे हैं (अर्थात, सरल-हृदय के लोगों को शास्त्रों की कर्म-काण्ड की मर्यादा तथा मुर्ति-पूजा में लगाकर दान-दक्षिणा आदि द्वारा लूट रहे हैं)।१३७।

नोट : इस श्लोक अंक १३६ के होते हुए कोई सिक्ख जो इस वाणी में श्रद्धा रखता हो, यह नहीं कह सकता कि मूर्ति द्वारा परमात्मा की पूजा हो सकती है, या मुर्ति-पूजा भी ठीक रास्ता है, जिस रास्ते पर चलकर मनुष्य परमात्मा को मिल सकता है।

कबीर कालि करंता अबहि करु, अब करता सुइताल ॥
पाछै कछू न होइगा, जउ सिर पर आवै कालु ॥१३८॥

पद अर्थ : कालि—कल, आने वाला कल। अबहि—अब ही। सुइताल—उसी क्षण। जउ—जब। कालु—मौत। पाछै—पीछे, भक्ति करने का समय बीत जाने पर।

नोट : श्लोक अंक १३२ में कबीर जी ने यह ताकीद की थी कि बुढ़ापा आने से पहले पहले भक्ति का स्वभाव बनाओ। साथ ही याद कराते हैं कि यह प्रभु की कृपा ही है जिस पर हो जाये। आम के फल का उदाहरण देकर समझाते हैं कि उसकी कृपा पर यकीन रखें, वह ज़रूर कृपा करता है। लेकिन साथ ही आगे सचेत करते हैं कि इन मूर्ति-पूजकों को परमात्मा की भक्ति करते मत जानो, ये बेचारे तो पंडित लोगों के कैदी हैं।

श्लोक अंक १३२ के ख़याल को फिर जारी रखते हुये कहते हैं कि :

अर्थ : हे कबीर ! (परमात्मा का सिमरन करने में कभी आलस्य मत कर), कल (सिमरन करूँगा, यह सालाह) करता अभी (सिमरन) कर (कल सिमरन शुरू करने की जगह अभी शुरू कर दे, अब करने की जगह इसी क्षण शुरू कर दे)। (नहीं तो आज कल करते हुये) जब मौत सिर पर आ जाती है, तब समय बीत जाने पर कुछ नहीं हो सकता।१३८।

कबीर ऐसा जंतु इकु देखिआ, जैसी धोई लाख ॥
दीसै चंचलु बहु गुना, मति हीना नापाक ॥१३९॥

पद अर्थ : ऐसा जंतु—ऐसा मनुष्य जिसने "रामु न चेतिओ"। धोई लाख—धुली हुई लाख (जो बड़ी चमकती है)। चंचलु—चालाक, चुस्त। बहु गुना—बहुत ही अधिक। मति हीना—बुद्धिहीन। नापाक—अपवित्र, गंदे जीवन वाला।

अर्थ : हे कबीर ! मैंने एक ऐसा मनुष्य देखा (जिसने कभी परमात्मा का सिमरन नहीं किया था), वह (बाहर से देखने में) धुली हुई चमकती लाख जैसा था। प्रभु की याद से हीन मनुष्य चाहे बहुत ही चुस्त चालाक दिखता हो, लेकिन वह असल में बुद्धिहीन होता है, क्योंकि प्रभु से बिछुड़कर उसका जीवन अपवित्र होता है।१३९।

कबीर मेरी बुधि कउ, जमु न करै तिसकार ।।
जिनि इहु जमूआ सिरजिआ, सु जपिआ परविदगार ।।१४०।।

पद अर्थ : बुधि—अक्ल। कउ—को। तिसकार—तिरस्कार, निरादर। जिनि—जिस (परवदगार) ने, जिस प्रभु ने। जमूआ—बेचारा यम (*नोट :* जिस 'यम' से दुनियाँ थर-थर कांपती है, भक्ति करने वालों को वह भी परमात्मा का पैदा किया हुआ एक साधारण-सा जीव प्रतीत होता है, उससे वे बिलकुल नहीं डरते)। सु—उस (परमात्मा को)।

अर्थ : हे कबीर ! (प्रभु की याद से हीन मनुष्य बड़ा चुस्त चालाक होता हुआ भी बुद्धिहीन तथा धिक्कार-योग्य होता है, क्योंकि उसका जीवन निम्नस्तर का रह जाता है, लेकिन मेरे ऊपर प्रभु की कृपा हुई है, दुनियाँ के लोगों का तो क्या कहना) मेरी बुद्धि को यमराज भी तिरस्कृत नहीं कर सकता क्योंकि मैंने उस पालनहार प्रभु का सिमरन किया है, जिसने इस बेचारे यम को पैदा किया है।१४०।

कबीरु कसतूरी भइआ, भवर भए सभ दास ।।
जिउ जिउ भगति कबीर की, तिउ तिउ राम निवास ।।१४१।।

पद अर्थ : कबीरु—सबसे बड़ा, परमात्मा। भइआ—हो जाता है, प्रतीत होता है। दास—(परमात्मा की भक्ति करने वाले) सेवक। भगति कबीर की—कबीर की भक्ति, परमात्मा की भक्ति।

अर्थ : भक्ति करने वालों को परमात्मा ऐसे प्रतीत होता है जैसे कस्तूरी हो, सभी भक्त उसके भौंरे बन जाते हैं (जैसे भौंरे फूल की सुगंध में मस्त हो जाते हैं तथा कहीं गंदी बदबू वाले स्थान पर नहीं जाते, वैसे ही भक्त परमात्मा के प्यार की सुगंध में लीन रहते हैं तथा मायिक पदार्थों की ओर नहीं जाते)। जैसे जैसे वे परमात्मा की भक्ति करते हैं, वैसे वैसे उनके हृदय में परमात्मा का निवास हो जाता है (ऐसे मनुष्यों की बुद्धि को कोई तिरस्कृत नहीं कर सकता)।१४१।

कबीर गहगचि परिओ कुटंब कै, कांठै रहि गइओ रामु ।।
आइ परे धरमराइ के, बीचहि धूमाधाम ।।१४२।।

पद अर्थ : गहगचि—घमसान में, झमेले में। कुटंब कै गहगचि—कुटुंब के झमेले में। परिओ—फंसा रहा। कांठै—किनारे पर, एक ही तरफ़। धरमराइ के—धर्मराज के भेजे हुये दूत। आइ परे—आ पहुँचे। बीचहि—बीच में ही। धूमाधाम—धूमधाम, शोर-गुल।

अर्थ : हे कबीर ! जो मनुष्य परिवार के झमेलों में ही फंसा रहता है, परमात्मा (का भजन उसके हृदय से) दूर ही रह जाता है। इस शोर-गुल में ही फंसे हुये के पास धर्मराज के भेजे हुये दूत आ पहुँचते हैं। ("रामु न चेतिओ, जरा पहूँचिओ आइ") ।१४२।

कबीर साकत ते सूकर भला, राखै आछा गाउ ।।
उहु साकतु बपुरा मरि गइआ, कोइ न लैहै नाउ ।।१४३।।

पद अर्थ : साकत ते—परमात्मा से टूटे हुये मनुष्य से। सूकर—सुअर। भला—अच्छा। आछा—साफ़। गाउ—गाँव। बपुरा—बेचारा, बदनसीब। कोइ नाउ न लैहै—कोइ उसका नाम भी नहीं लेता, किसी को उसकी याद भी नहीं रहती।

अर्थ : हे कबीर ! (कुटुंब के झमेले में पड़कर परमात्मा को बिसार देने वाले) साकत से तो सुअर ही अच्छा जानो, जो (गाँव के आस पास की गंदगी खाकर) गाँव को साफ़-सुथरा रखता है। जब वह मंदभागा साकत मर जाता है, किसी को उसकी याद भी नहीं रहती (चाहे वह ज़िन्दा रहते हुये कितना ही बड़ा बनकर रहता रहा हो) ।१४३।

नोट : यहाँ साकत तथा सूकर के जीवन की तुलना कर बताया है कि दोनों में से सूकर को अच्छा जानो। साकत सारी उम्र गंदे-मंदे विकारों में पड़ा रहता है, सूकर गंद खाता है। लेकिन साकत तो कई ग़रीब लोगों को दुःख देता रहा होगा तथा सूकर गाँव की सफ़ाई रखकर गाँव की सेवा ही करता रहा।

कबीर कउडी कउडी जोरि कै, जोरे लाख करोरि ।।
चलती बार न कछु मिलिओ, लई लंगोटी तोरि ।।१४४।।

पद अर्थ : चलती बार—संसार से चलते समय, मरते समय।

लंगोटी—(*नोट :* प्राणी के मरने पर उसके शरीर को साधारण हालतों में उसके संबंधी नहला-धुलाकर कपड़े डालकर जलाते, दबाते हैं। अैसे नहीं होता कि उसकी लंगोटी भी उतार लें। लेकिन बीते समय में व्यापारी लोग घर से चलते समय रुपयों को थैली में डालकर कमर से बाँध लेते थे, ताकि चुराये न जायें। इस थैली को 'वांसुली' कहते थे। वांसुली एक लंबी तथा तंग थैली होती है जिसमें गोलाई की तरफ़ सिर्फ़ एक रुपया आ सके। 'वांसुली' के दोनों किनारों पर डोरी होती है, दोनों किनारे बंद कर कमर से बांध लिये जाते हैं। जिस मनुष्य को अपने कमाये हुए रुपयों की अधिक चिंता रहे वह हर समय बांधे रखता फिरता होगा। लगता है यहाँ लंगोटी से कबीर जी का भाव उसी 'थैली' से है) थैली।

अर्थ : हे कबीर ! (प्रभु से टूटकर सिर्फ़ माया जोड़ने का भी क्या लाभ ?) जिस मनुष्य ने जोड़-जोड़कर लाख करोड़ रुपये भी इकट्ठे कर लिये हों (तथा इस जोड़े हुये धन का इतना ख़याल रखता हो कि 'वांसुली' में डालकर कमर से बांधे रखता हो उसको भी) मरते समय कुछ प्राप्त नहीं होता, (उसके संबंधी) उसकी वांसुली भी तोड़कर उतार लेते हैं।१४४।

कबीर बैसनो हूआ त किआ भइआ, माला मेलीं चारि ।।
बाहरि कंचनु बारहा, भीतरि भरी भंगार ।।१४५।।

पद अर्थ : बैसनो—तिलक, माला, चक्र आदि लगाकर बना हुआ विष्णू का भक्त। माला मेलीं चारि—चार मालायें पहन लीं। कंचनु—सोना। बारहा—बारह का, शुद्ध। भीतरि—अंदर, मन में। भंगार—लाख, खोट।

अर्थ : हे कबीर ! (प्रभु का सिमरन छोड़कर सिर्फ़ धन कमाने वाले लोग उम्र व्यर्थ गँवाते हैं क्योंकि धन यहाँ ही पड़ा रहता है। लेकिन अकेले भेष को ही भक्ति-मार्ग समझने वाले भी कुछ नहीं अर्जित कर रहे) यदि किसी मनुष्य ने तिलक चक्र लगाकर तथा चार मालायें पहनकर अपने आप को वैष्णव भक्त कहलवा लिया, उसने भी कुछ नहीं कमाया। (इस धार्मिक भेष के कारण) बाहर से देखने में चाहे शुद्ध सोना दिखाई दे, लेकिन उसके अंदर खोट ही खोट है।१४५।

नोट : चौंक आदि कई गहने लोग ऐसे बनवाते हैं जिनके बाहर की तरफ़ तो शुद्ध सोने की पतरी लगी हुई होती है लेकिन उसके अंदर लाख भरी हुई होती है।

कबीर रोड़ा होइ रहु बाट का, तजि मन का अभिमानु ॥
ऐसा कोई दासु होइ, ताहि मिलै भगवानु ॥१४६॥

कबीर रोड़ा हूआ त किआ भइआ, पंथी कउ दुखु देइ ॥
ऐसा तेरा दासु है, जिउ धरनी महि खेह ॥१४७॥

कबीर खेह हूई तउ किआ भइआ, जउ उडि लागै अंग ॥
हरि जनु ऐसा चाहीऐ, जिउ पानी सरबंग ॥१४८॥

कबीर पानी हूआ त किआ भइआ, सीरा ताता होइ ॥
हरि जन ऐसा चाहीऐ, जैसा हरि ही होइ ॥१४९॥

नोट : प्रभु के सिमरन की सहायता से जीवन को सहजे सहजे ऊँचा कर परमात्मा में लीन करने के लिये इन चार श्लोकों में कबीर जी रोड़े, धूल तथा पानी का दृष्टांत देकर इनके गुणों को धारण करने तथा इनके अवगुणों को छोड़ने का उपदेश देते हैं।

रास्ते में पड़ा हुआ रोड़ा राहगीरों के पैरों की ठोकरें खाता है, इसी तरह मनुष्य ने दूसरों की तरफ़ से मिले हुये कष्टों तथा कुबोलों को सहन करने की आदत डालनी है। रोड़ा नंगे पांव जाने वाले राही के पैरों में चुभता है, भक्त ने किसी ग़रीब से ग़रीब को भी कोई चुभने वाला बोल नहीं बोलना, धूल जैसे कोमल दिल वाला बनकर रहना है, लेकिन धूल मुसाफ़िरों पर पड़कर उनको गंदा करती है, भक्त ने इस आदत से बचना है, किसी के ऐब नहीं निकालने। जैसे पानी सभी अंगों के लिये एक-सा होता है, सभी आकृतियों के बर्तनों के साथ भी मेल कर लेता है, भक्त ने अच्छे-बुरे सबके साथ प्यार करना है। लेकिन भक्त ने सदा ठंडे स्वभाव वाला रहना है, इतना एक-रस कि परमात्मा तथा इसमें कोई अंतर न रह जाये।

पद अर्थ : रोड़ा—रोड़ा, ईंट का टुकड़ा। बाट—रास्ता। तजि—छोड़कर। ताहि—उसको।१४६।

पंथी—राही, मुसाफ़िर। धरनी—धरती। खेह—मिट्टी, बारीक मिट्टी, धूल।१४७।

सरबंग—सभी अंगों के साथ (मेल रखने वाला)।१४८।

सीरा—शीतल, ठंडा। ताता—गर्म।१४९।

अर्थ : हे कबीर! (यदि "जा के संग ते बीछुरा ताही के संगि लागु" मिलने की चाह है, तो) अहंकार को छोड़कर राह में पड़े हुये रोड़े की तरह हो जा, (तथा प्रत्येक राही की ठोकरें सहन कर)। जो कोई मनुष्य ऐसा सेवक बन जाता है, उसको परमात्मा मिल जाता है।१४६।

लेकिन हे कबीर! रोड़ा बनने से भी पूरी कामयाबी नहीं होती, क्योंकि (रोड़ा ठोकरें तो सहता है लेकिन नंगे पाँव चलने वाले) राहगीरों के पैरों में चुभता भी है, (तूने किसी को दुःख नहीं देना)। हे प्रभु! तेरा भक्त तो ऐसा नर्म-दिल बन जाता है जैसे राह की बारीक धूल।१४७।

हे कबीर! धूल (जैसा) बनने से भी अभी कसर रह जाती है, मिट्टी, (पैरों के साथ) उड़कर (राहगीरों के) ऊपर पड़ती है। परमात्मा का भक्त ऐसा चाहिये जैसे पानी प्रत्येक आकृति के बर्तन में समा जाता है।१४८।

हे कबीर! पानी के समान सबके साथ मेल रखने से भी अभी पूर्णता नसीब नहीं होती, पानी कभी ठंडा तथा कभी गर्म हो जाता है, भक्त ऐसा होना चाहिये (कि दुनियाँ के साथ व्यवहार करता हुआ अपने स्वभाव को इतना अडोल रखे) कि इसमें तथा परमात्मा में कोई फ़र्क न रह जाये।१४९।

ऊच भवन कनकामनी, सिखरि धजा फहराइ॥
ता ते भली मधूकरी, संत संग गुन गाइ॥१५०॥

कबीर पाटन ते ऊजरु भला, राम भगत जिह ठाइ॥
राम सनेही बाहरा, जमपुरु मेरे भांइ॥१५१॥

पद अर्थ : भवन—महल। कनकामनी—कनक कामनी (*नोट :* कनक का अंतिम तथा 'कामनी' का पहला अक्षर 'क' इकट्ठा मिला दिये गये

हैं)। कनक—सोना, धन-दौलत। कामनी—सुन्दर स्त्री। सिखरि—शिखर, (महल की) चोटी पर। धजा—ध्वज, झंडा। फहराइ—झूलता हो। मधूकरी—दर दर पर भिखारियों की तरह मांगी हुई भिक्षा।१५०।

पाटन—शहर। ऊजरु—उजड़ा हुआ स्थान। जिह ठाइ—जिस स्थान पर। सनेही—प्यार करने वाला। राम सनेही बाहरा—परमात्मा से प्यार करने वालों से रहित स्थान। जमपुरु—यम का शहर, नरक। मेरे भांइ—मेरे लिये।१५१।

अर्थ : ऊँचे महल आदि हों, बड़ा धन-पदार्थ हो, सुन्दर स्त्री हो, महल के शिखर पर झंडा झूलता हो, (लेकिन यदि प्रभु का नाम न लिया जाता हो तो) इस सारे राजभोग से मांगकर लाई हुई भिक्षा अच्छी है, यदि मनुष्य संतों की संगति में रहकर परमात्मा की सिफ़ति-सालाह करता हो।१५०।

हे कबीर ! शहर से वह उजड़ा हुआ स्थान अच्छा है जहाँ प्रभु के भक्त (प्रभु के गुण गाते) हों। जो स्थान परमात्मा से प्यार करने वाले लोगों से रहित हो, मुझे तो वह नरक प्रतीत होता है।१५१।

नोट : कबीर जी यहाँ किरत-कार (मेहनत की कमाई) छोड़कर मांग-कर खाने को अच्छा नहीं कह रहे। यहाँ तो वे उस राजभोग को अर्थहीन कहते हैं जो प्रभु की याद से अलग कर दे। जो मनुष्य अभिमान त्यागता है, कोमल हृदय वाला हो जाता है। सबके साथ ऐसा व्यवहार करता है कि "जैसा हरि ही होइ", वैसा बन जाता है, उसको सतसंग ही सबसे प्यारा स्थान लगता है।

कबीर गंग जमुन के अंतरे, सहज सुंन के घाट ॥
तहा कबीरै मटु कीआ, खोजत मुनि जन बाट ॥१५२॥

नोट : पता नहीं हमारे कई टीकाकार सज्जन कबीर जी को ज़बरदस्ती प्राणायामी क्यों बनाये जा रहे हैं। इस श्लोक का अर्थ आम तौर पर इस तरह किया जा रहा है : बाईं तथा दाईं सुर जहाँ मिलती है जो स्थान अफुर तुरीआ अवस्था का है, वहाँ कबीर जी ने अपना मठ बनवाया है। गुरु ग्रन्थ साहिब में दर्ज हुई सारी वाणी गुरु-रूप है। यदि यहाँ प्राणायाम करने

की हिदायत है तो प्रत्येक सिक्ख के लिये बाईं-दाईं सुर वाला अभ्यास ज़रूरी हो गया। कहीं भी इस श्लोक के साथ कोई ऐसा हुक्म दर्ज नहीं है कि इसको सिर्फ़ पढ़ना है, इस पर अमल नहीं करना।

लेकिन असल बात तो यह है कि इस श्लोक में प्राणायाम का कोई ज़िकर नहीं है। श्लोक अंक १४६ से ये सभी श्लोक मिलाकर पढ़ें। जो मनुष्य "जैसा हरि ही होइ" वैसा बन जाता है, उसकी आत्मिक अवस्था बयान की गई है। शब्द 'गंग जमुन' से तुरन्त प्राणायाम के अर्थ बना लेने बहुत जल्दबाज़ी की बात है। हमारे दीन-दुनी के पातशाह सतिगुरु नानक देव जी ने भी इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है। क्या फिर वे भी प्राणायाम किया करते थे? देखें :

माघि पुनीत भई, तीरथु अंतरि जानिआ ॥
साजन सहजि मिले, गुण गहि अंकि समानिआ ॥
प्रीतम गुण अंके, सुणि प्रभ बंके, तुधु भावा सरि नावा ॥
गंग जमुन तह बेणी संगम, सात समुंद समावा ॥
पुंन दान पूजा परमेसुर, जुगि जुगि एको जाता ॥
नानक माघि महा रसु हरि जपि, अठसठि तीरथ नाता ॥१५॥

(तुखारी बारह माहा म: १, पन्ना ११०९)

जो सज्जन ज़रा भी विचार करने का प्रयास करेंगे, वे देख लेंगे कि चौथी पंक्ति का शब्द 'तह' पहली पंक्ति के "तीरथु अंतरि जानिआ" के साथ संबंध रखता है। सो "गंग जमुन बेणी संगम" प्रत्येक मनुष्य के 'अंतरि' है। वहाँ 'हरि जपि' 'महा रसु' पैदा होता है, इतना रस कि मानो "अठसठि तीरथ नाता"।

किसी भी हालत में कोई सज्जन यह अर्थ नहीं कर सकता कि गुरु नानक देव जी यहाँ बाईं-दाईं सुर के अभ्यास का ज़िकर कर रहे हैं।

कबीर जी भी स्वयं एक स्थान पर 'गंग जमुन' का ज़िकर करते हैं, वहाँ भी इड़ा पिंगला आदि की ओर संकेत नहीं है। देखें :

पिंडि मूऐ, जीउ किह घरि जाता ॥
सबदि अतीति अनाहदि राता ॥

जिनि रामु जानिआ, तिनहि पछानिआ ॥
जिउ गूंगे साकर मनु मानिआ ॥१॥
ऐसा गिआनु कथै बनवारी ॥
मन रे, पवन द्रिड़, सुखमन नारी ॥१॥रहाउ॥.....
उलटी गंगा जमुन मिलावउ ॥
बिनु जल संगम, मन महि न्हावउ ॥.....
कहै कबीर निरंजनु धिआवउ ॥
तितु घरि जाउ, जि बहुरि न आवउ ॥४॥१८॥

(गउड़ी कबीर जी, पन्ना ३२७)

इसका अर्थ :

(प्रश्न :) शरीर का मोह दूर होने पर आत्मा कहाँ टिकती है ? (अर्थात, पहले तो जीव अपने शरीर के मोह के कारण माया में मस्त रहता है, जब यह मोह दूर हो जाये तब जीव का ध्यान कहाँ जुड़ा रहता है ?)

(उत्तर :) तब आत्मा सतिगुरु के शब्द की बरकत से उस प्रभु में जुड़ा रहता है जो माया के बन्धनों से परे है तथा अनंत है। लेकिन जिस मनुष्य ने प्रभु को (अपने अंदर) जाना है उसने उसको पहचाना है, जैसे गूंगे का मन शक्कर का स्वाद अनुभव करता है (कोई अन्य उस स्वाद को नहीं समझता, किसी अन्य को वह समझा नहीं सकता)।१।

इस जैसा ज्ञान प्रभु स्वयं प्रकट करता है (अर्थात, प्रभु के साथ मिलाप वाला यह स्वाद प्रभु आप ही देता है, इसलिये) हे मन ! श्वास-श्वास नाम जप। यही है सुखमना नाड़ी का अभ्यास।१।रहाउ।.....

मैंने अपने मन की वृत्ति बदल दी है, (इस तरह) मैं गंगा तथा यमुना को मिला रहा हूँ (अर्थात, अपने अंदर त्रिवेणी का संगम बना रहा हूँ), (इस उद्यम से) मैं उस मन-रूप (त्रिवेणी) संगम में स्नान कर रहा हूँ जहाँ (गंगा, यमुना, सरस्वती वाला) जल नहीं है।.....

कबीर कहता है—मैं माया से रहित प्रभु को सिमर रहा हूँ, (सिमरन कर) उस घर (सहज-अवस्था) में पहुँच गया हूँ कि फिर (पलटकर वहाँ से) आना नहीं पड़ेगा।४।१८।

सतिगुरु नानक देव जी तथा कबीर जी के इन दोनों शब्दों से हमने देख लिया है कि दोनों का 'गंग जमुन' के बारे में एक जैसा ही मिला-जुला भाव है। दोनों महापुरुष यही कहते हैं कि त्रिवेणी का असल स्नान यह है कि मनुष्य अपने अन्दर प्रभु-चरणों में जुड़े।

यही ख़याल इस श्लोक अंक १५२ में है।

पद अर्थ : गंग जमुन के अंतरे—गंगा, यमुना (तथा सरस्वती) के मेल में। [*नोट :* जहाँ दो नदियाँ मिलती हैं वहाँ पानी गहरा तथा गंभीर हो जाता है। पानी की तेज़ी कम हो जाती है, पानी टिका हुआ प्रतीत होता है। रोड़े की तरह अभिमान आदि त्यागकर जब मनुष्य "जैसा हरि ही होइ" बनता है तो वह अवस्था बनती है जिसके बारे में कबीर जी ने कहा है "उलटी गंगा जमुन मिलावउ" अर्थात, मन माया की तरफ़ से उलटकर अडोल अवस्था में आ जाता है।] सहज—अडोल अवस्था, मन की वह अवस्था जब यह माया में डोलता नहीं, जब "ऊच भवन कनकामनी" तथा "सिखरि धजा" इसको मोह नहीं सकते। सुंन—सुन्न, वह अवस्था जहाँ मायिक पदार्थों के फुरने नहीं उठते। तहा—उस अडोलता में। घाट—टिकाना। मटु—निवास। कबीरै—कबीर ने, कबीर के मन ने। बाट—रास्ता।

अर्थ : हे कबीर ! (जैसे जैसे मैंने "जपिआ परविदगार", रोड़े आदि जैसा मैंने अभिमान छोड़ा तथा "जैसा हरि ही होइ" वाली मेरी अवस्था बनी, तो) मेरे कबीर के मन ने उस पतन पर टिकाना किया जहाँ सहज अवस्था है, जहाँ मायिक पदार्थों के फुरनों की तरफ़ से सुन्न है, जहाँ मानो गंगा यमुना के पानी का मिलाप है (अलग-अलग नदियों के पानी का वेग घटकर अब गंभीरता तथा शान्ति है)। इस अवस्था में पहुँचने का रास्ता सभी ऋषि लोग खोजते रहते हैं।१५२।

कबीर जैसी उपजी पेड ते, जउ तैसी निबहै ओड़ि ॥
हीरा किस का बापुरा, पुजहि न रतन करोड़ि ॥१५३॥

नोट : जब कोई नया पेड़ उगता है, वह बहुत नर्म तथा कोमल होता है, कितनी ही सख़्त अंधेरी आये, उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकती, क्योंकि उसमें लचक होती है, तेज़ हवा उसे तोड़ नहीं सकती। लेकिन जैसे जैसे

पौधा बड़ा होता है, पहली कोमलता तथा लचक नहीं रहती। उम्र पाकर बड़े आकार वाला तो यह बन जाता है लेकिन अन्धेरी इसको आसानी से जड़ से उखाड़कर बाहर मार देती है।

परमात्मा के चरणों में जुड़ने के लिये सबसे पहले 'अभिमान' दूर करना ज़रूरी है, अभिमान दूर होने से ही हृदय में कोमलता आती है, जिसकी बरकत से मनुष्य ग़रीबों अमीरों, सबको एक परमात्मा के पैदा किये हुये जानकर सबके साथ प्यार का व्यवहार करता है तथा स्वयं भी सदा शान्ति-चित्त रहता है। यदि मनुष्य "सहज सुंन के घाट" पर टिका रहे तो यह कोमलता भी बनी रहती है। ऐसे मनुष्य के उच्च जीवन की कीमत नहीं आंकी जा सकती।

पद अर्थ : जैसी—जैसी कोमलता। पेड—नया उगा हुआ पेड़। ते—से। जउ—यदि। निबहै—बनी रहे। ओड़ि—आख़िर तक, सदा ही।

अर्थ : हे कबीर ! जैसी कोमलता नये उगे हुए पौधे की होती है यदि ऐसी कोमलता (मनुष्य के हृदय में) सदा के लिये टिकी रहे ("ऊच भवन कनकामनी" तथा "सिखरि धजा" उस कोमलता को दूर न कर सके, मनुष्य "सहज सुंन के घाट" पर सदा आसन लगाये रखे तो उस मनुष्य का जीवन इतना ऊँचा हो जाता है कि) एक हीरा तो क्या ? करोड़ों रत्न भी उसकी कीमत नहीं आंक सकते।१५३।

कबीरा एकु अचंभउ देखिओ, हीरा हाट बिकाइ ।।
बनजनहारे बाहरा, कउडी बदलै जाइ ।।१५४।।

नोट : मानव-जन्म दुर्लभ है, सौभाग्य से मिलता है; यह मानो एक ऐसा कीमती हीरा है जिसका मूल्य नहीं आंका जा सकता। जीव इस मानव-जन्म को प्राप्त कर यहाँ व्यापार करने आया है, परमात्मा के नाम का सौदा करने आया है। लेकिन "ऊच भवन कनकामनी", "सिखरि धजा" आदि मायिक पदार्थों में व्यस्त होकर असली व्यापार करना भूल ही गया है। ये दुनियाँ के पदार्थ यहाँ ही रह जाते हैं, यहाँ से ख़ाली हाथ चलना पड़ता है, सो सारी उम्र व्यर्थ ही चली जाती है, यह हीरा-जन्म, मानो कौड़ियों के भाव बिक जाता है।

पद अर्थ : अचंभउ—आश्चर्ययुक्त (मूर्खता का) तमाशा। हाट—दुकान, दुकान पर। बिकाइ—बिक रहा है। बनजनहारे बाहरा—ख़रीदने वाला न होने के कारण, किसी को व्यापार करने की बिधि न आने के कारण।

अर्थ : हे कबीर ! (जगत् में) मैंने एक आश्चर्ययुक्त मूर्खता का तमाशा देखा है। हीरा दुकान दुकान पर बिक रहा है, क्योंकि किसी को इसकी कदर-पहचान नहीं है, यह कौड़ियों के भाव जा रहा है (व्यर्थ जा रहा है) ।१५४।

कबीरा जहा गिआनु तह धरमु है, जहा झूठु तह पापु ।।
जहा लोभु तह कालु है, जहा खिमा तह आपि ।।१५५।।

पद अर्थ : जहा—जहाँ, जिस मनुष्य के अन्दर। गिआनु—सूझ, यह समझ कि हीरा-जन्म किस लिये मिला है। तह—उस मनुष्य के अन्दर। धरमु—जन्म-मनोरथ को पूरा करने का फ़र्ज़। कालु—आत्मिक मौत। खिमा—धैर्य, शान्ति। आपि—परमात्मा ख़ुद।

अर्थ : हे कबीर! जन्म-मनोरथ को पूरा करने का फ़र्ज़ तभी पूरा हो सकता है जब यह समझ हो कि हीरा-जन्म किस लिये मिला है। लेकिन जिस मनुष्य के अन्दर झूठ तथा लोभ (का ज़ोर) हो, वहाँ (धर्म की जगह) पाप तथा आत्मिक मौत ही हो सकते हैं (वह जन्म "कउडी बदलै" ही जाना हुआ)। परमात्मा का निवास सिर्फ़ उस हृदय में होता है जहाँ शान्ति है।१५५।

कबीर माइआ तजी त किआ भइआ, जउ मानु तजिआ नही जाइ ।।
मान मुनी मुनिवर गले, मानु सभै कउ खाइ ।।१५६।।

नोट : "ऊच भवन कनकामनी", "सिखरि धजा" आदि पदार्थों में मस्त रहने के कारण हीरा-जन्म "कउडी बदलै" जाता है क्योंकि दुनियाँ की मौजों के लोभ के कारण मानव आत्मिक मौत मरता है। लेकिन इसका यह भाव नहीं कि कबीर जी दुनियाँ के त्याग वाला रास्ता पसंद करते हैं। यह तो बल्कि मान-अहंकार पैदा करता है। बड़े बड़े ऋषि-मुनि गृहस्थ

त्यागकर जंगलों में जा बैठे लेकिन इस त्याग का अहंकार ही उनको खा गया।

पद अर्थ : मुनिवर—बड़े बड़े ऋषि-मुनि। मानु गले—अहंकार से गल गये। सभै कउ—हरेक को।

अर्थ : हे कबीर ! ("ऊच भवन कनकामनी" आदि) माया त्याग दी तो कुछ भी नहीं संवरता, यदि अहंकार का त्याग नहीं किया जाता। बड़े बड़े ऋषि-मुनि (त्याग के) इस मान-अहंकार में गल जाते हैं, (यह मान किसी का लिहाज़ नहीं करता) मान हरेक को खा जाता है (जो भी प्राणी अहंकार करता है, उसका आत्मिक जीवन ख़त्म हो जाता है) ।१५६।

कबीर साचा सतिगुरु मै मिलिआ, सबदु जु बाहिआ एकु ॥
लागत ही भुइ मिलि गइआ, परिआ कलेजे छेकु ॥१५७॥

कबीर साचा सतिगुरु किआ करै, जउ सिखा महि चूक ॥
अंधै एकु न लागई, जिउ बांसु बजाईऐ फूक ॥१५८॥

नोट : हीरे जन्म को "कउडी बदलै" जाने से बचाने का बस एक ही रास्ता है, वह है सतिगुरु की शरण। लेकिन गुरु-दर पर भी रस्मी तौर पर नहीं आना। अपनी चतुराई छोड़कर गुरु के बताये रास्ते पर चलना है।

पद अर्थ : मै—मुझे। जु—जब। एकु बाहिआ—एक शब्द-रूप तीर चलाया, शब्द सुनाया, जो मेरे हृदय में तीर की तरह लग गया। भुइ—मिट्टी में। भुइ मिलि गइआ—मिट्टी में मिल गया, मैं अहंकार-रहित हो गया। परिआ कलेजे छेकु—मेरे कलेजे में छेक हो गया, मेरा हृदय बिंध गया, मेरा हृदय गुरु-चरणों में रम गया।१५७।

चूक—चूक, कमी। एकु न लागई—एक भी शिक्षा की बात असर नहीं करती। अंधै—अंधे को, उस मनुष्य को जो अहंकार में अंधा हुआ पड़ा है। बजाईऐ फूक—फूंक से बजाया जाता है, फूंक मारने से बजता है।१५८।

अर्थ : हे कबीर ! (हीरा-जन्म बचाने के लिये मुझे गृहस्थ त्यागने

की ज़रूरत ही नहीं पड़ी) मुझे पूरा गुरु मिल गया, उसने एक शब्द सुनाया जो मुझे तीर की तरह लगा, मेरा हृदय गुरु-चरणों में रम गया तथा मेरा अहंकार मिट्टी में मिल गया।१५७।

लेकिन हे कबीर ! यदि सिक्खों में कमी हो तो सतिगुरु भी कुछ संवार नहीं सकता (इस हीरे-जन्म को "कउडी बदलै" जाने से बचा नहीं सकता), जो मनुष्य अहंकार में अंधा हो जाये, गुरु की शिक्षा की कोई भी बात उसे प्रभावित नहीं कर सकती। जैसे फूंक मारने से बांस (की बांसुरी) बजने लग जाती है (लेकिन फूंक एक सिरे से लांघकर दूसरे सिरे से बाहर निकल जाती है, वैसे ही अहंकारी के एक कान से दूसरे कान के रास्ते वह शिक्षा बिना असर किये ही निकल जाती है। दिखावे का ज्ञानी वह चाहे बन जाये।१५८।

कबीर है गै बाहन सघन घन, छत्रपती की नारि ॥
तासु पटंतर ना पुजै, हरि जन की पनिहारि ॥१५९॥

कबीर त्रिप नारी किउ निंदीऐ, किउ हरि चेरी कउ मानु ॥
ओह मांग सवारै बिखै कउ, ओह सिमरै हरिनामु ॥१६०॥

पद अर्थ : है—हय, घोड़े। गै—गय, गज, हाथी। बाहन—वाहन, सवारी। सघन घन—बहुत सारे। छत्रपती—छत्र का स्वामी, राजा। तासु पटंतर—उसका दरबार। पनिहारि—पानी-हारि, पानी भरने वाली।१५९।

त्रिप—नृप, राजा। चेरी—दासी। मानु—आदर। कउ—को। मांग सवारै—मांग संवारती है। बिखै कउ—काम-वासना के लिये।१६०।

अर्थ : हे कबीर ! जो स्त्री परमात्मा का भजन करने वाले गुरमुखों का पानी भरने की सेवा करती है (वह चाहे कितनी भी ग़रीब हो) उसकी बराबरी उस छत्रपति राजे की रानी भी नहीं कर सकती, जिसके पास सवारी के लिये अनंत घोड़े हाथी हों।१५९।

हे कबीर ! हम उस रानी को क्यों बुरी कहते हैं तथा संत-जनों की सेवा करने वाली को क्यों आदर देते हैं ? (इसका कारण यह है कि) त्रिप-नारी तो सदा काम-वासना के लिये पट्टियाँ संवारती रहती है लेकिन

संत-जनों की टहल करने वाली (संतों की संगति में रहकर) परमात्मा के नाम का सिमरन करती है।१६०।

कबीर थूनी पाई थिति भई, सतिगुर बंधी धीर ॥
कबीर हीरा बनजिआ, मान सरोवर तीर ॥१६१॥

कबीर हरि हीरा जन जउहरी, ले कै मांडै हाट ॥
जब ही पाईअहि पारखू, तब हीरन की साट ॥१६२॥

नोट : श्लोक अंक १६१ में तथा अगले श्लोक की पहली पंक्ति में शब्द 'हीरा' एक-वचन है, लेकिन अंतिम पंक्ति में शब्द 'हीरन' बहु-वचन है। इनके अर्थ में थोड़ा-सा फ़र्क पड़ेगा, भाव चाहे वही रहेगा।

पद अर्थ : थूनी—स्तब्ध, सतिगुरु का शब्द। थिति—टिकाउ, शान्ति, प्रभु-चरणों में टिकाउ। बंधी धीर—धैर्य बंधा दिया, अडोलता दी, भटकना से बचा लिया। हीरा—परमात्मा का नाम। बनजिआ—ख़रीदा (मन की दौड़-भाग देकर, मन गुरु के हवाले कर के)। मान सरोवर—सतसंग। तीर—किनारा।१६१।

जन—हरि-जन, परमात्मा के भक्त, सतसंगी। जउहरी—नाम-रूप हीरे के व्यापारी। ले कै—नाम हीरा लेकर। मांडै—सजाता है। हाट—दुकान, हृदय। पाईअहि—मिलते हैं, सतसंग में इकट्ठा होते हैं। पारखू—नाम-हीरे की कदर जानने वाले। हीरन की—हीरों की, प्रभु के गुणों की। (*नोट :* 'हीरन' बहु-वचन होने के कारण इसका अर्थ है 'परमात्मा के गुण')। साट—साझ, सतसंग में मिलकर प्रभु के गुणों का ज़िकर।१६२।

अर्थ : हे कबीर ! जिस मनुष्य को सतिगुरु के शब्द का सहारा मिल जाता है, जिसको गुरु ("ऊच भवन कनकामनी", "है गै बाहन" आदि की तरफ़ से भटकने से) बचा लेता है, उसका मन प्रभु के चरणों में टिक जाता है। (अपना मन सतिगुरु को अर्पण कर) वह मनुष्य सतसंग में परमात्मा का अमोलक नाम ख़रीदता है।१६१।

हे कबीर ! परमात्मा का नाम, मानो हीरा है, परमात्मा के सेवक उस हीरे के व्यापारी हैं; यह हीरा हासिल करके वह (अपने) हृदय को

सुन्दर सजाता है। जब (नाम-हीरे की) कदर जानने वाले ये सेवक (सतसंग में) मिलते हैं, तो परमात्मा के गुणों की साझ बनाते हैं (अर्थात, मिलकर प्रभु की सिफ़ति-सालाह करते हैं।१६२।

कबीर काम परे हरि सिमरीऐ, ऐसा मिसरहु नित ॥
अमरापुर बासा करहु, हरि गइआ बहोरै बित ॥१६३॥

पद अर्थ : काम परे—जब कोई ज़रूरत पड़े, जब आवश्कयता हो। अमरापुर—वह पुरी जहाँ अमर हो जाते हैं, वह पुरी जहाँ जन्म-मरन के चक्कर से बच जाते हैं। गइआ बित—गुम हुआ धन। वे शुभ गुण जो मायिक पदार्थों के पीछे दौड़-दौड़कर गुम हो चुके हैं। बहोरै—वापिस ले आता है, फिर पैदा कर देता है।

अर्थ : हे कबीर ! कोई आवश्यकता पड़ने पर जिस तरह (अर्थात, जिस प्यार तथा आकर्षण से) परमात्मा को याद किया जाता है, यदि उसी प्यार तथा आकर्षण के साथ उसे सदा ही याद करो तो उस स्थान पर टिक जाओगे जहाँ अमर हो जाते हैं। (जहाँ आत्मिक मौत नहीं होती); तथा जो सुन्दर गुण मायिक पदार्थों के पीछे दौड़-दौड़कर गुम हो चुके होते हैं वे गुण प्रभु फिर (सिमरण करने वाले के हृदय में) पैदा कर देता है।१६३।

कबीर सेवा कउ दुइ भले, एकु संतु एकु रामु ॥
रामु जु दाता मुकति को, संतु जपावै नामु ॥१६४॥
कबीर जिह मारगि पंडित गए, पाछै परी बहीर ॥
इक अवघट घाटी राम की, तिह चड़ि रहिओ कबीर ॥१६५॥

नोट : कबीर जी यहाँ ख़लकत की सेवा से नहीं रोक रहे। दोनों श्लोकों को मिलाकर पढ़ें तो उनका भाव स्पष्ट हो जाता है। वैसे तो वे श्लोक अंक १४६ से १४९ तक प्रत्येक प्राणी-मात्र के साथ प्यार का व्यवहार करने की हिदायत करते हैं। यहाँ यह ज़िकर है कि एक तो परमात्मा के बिना किसी अन्य देवी-देवते की पूजा न करो, दूसरा परमात्मा का मिलाप

सिर्फ़ सतसंग में गुरमुखों की संगति में होता है, कर्म-काण्डी पंडितों या पाखंडी साधुओं के आगे नाक मत रगड़ते फिरो।

पद अर्थ : को—का। दाता—देने वाला। मुकति—मायिक बंधनों से मुक्ति। जपावै—जपने में सहायता करता है, जपने की ओर प्रेरित करता है।१६४।

जिह मारगि—जिस मार्ग द्वारा, कर्म-काण्ड के जिस रास्ते से, तीर्थ व्रत आदि जिस मार्ग से। परी—चल पड़ी, चली जा रही है। बहीर—भीड़, लोगों की भीड़, अनंत लोग। अवघट घाटी—कठिन घाटी, कठिन चढ़ाई का रास्ता।१६५।

अर्थ : हे कबीर ! मायिक बंधनों से मुक्ति देने वाला परमात्मा आप है, तथा संत गुरमुख उस परमात्मा के नाम-सिमरन की ओर प्रेरित करता है; सो एक संत तथा एक परमात्मा—(मुक्ति तथा प्रभु-मिलाप की ख़ातिर) इन दोनों की ही सेवा-पूजा करनी चाहिये।१६४।

हे कबीर ! (तीर्थ व्रत आदि के) जिस रास्ते पर पंडित लोग चल रहे हैं (यह रास्ता क्योंकि आसान है) बहुत लोग उनके पीछे लगे हुये हैं, लेकिन परमात्मा के सिमरन का रास्ता, मानो एक कठिन पहाड़ी रास्ता है, कबीर (इन पंडित लोगों को छोड़कर) चढ़ाई वाले रास्ते सफ़र कर रहा है।१६५।

कबीर दुनीआ के दोखे मूआ, चालत कुल की कानि ॥
तब कुलु किस का लाजसी, जब ले धरहि मसानि ॥१६६॥

कबीर डूबहिगो रे बापुरे, बहु लोगन की कानि ॥
पारोसी के जो हूआ, तू अपने भी जानु ॥१६७॥

नोट : पंडित लोगों ने तीर्थ व्रत आदि का जो रास्ता चला दिया है, उस पर चलने के लिये साधारण मनुष्य को कुल-रीति भी बहुत मजबूर करती है। यदि कोई हिन्दु स्त्री करवा चौथ या महालक्ष्मी आदि का व्रत रखना छोड़ दे तो आस-पड़ौस में चर्चा होनी शुरू हो जाती है। इस लोकाचार में से निकलना भी बहुत कठिन है।

पद अर्थ : दुनीआ के दोखे—इस चिन्ता में कि दुनियाँ क्या कहेगी। मूआ—मर जाता है, आत्मिक मौत मर जाता है। कुल की कानि—उस रीति में जिसमें अपनी कुल के लोग चले आ रहे हैं। लाजसी—लज्जा युक्त होगा, बदनामी कमायेगा। मसानि—श्मशान में।१६६।

रे बापुरे—हे मंदभागी जीव। लोगन की कानि—लोक-लाज में। पारोसी—पड़ौसी।१६७।

अर्थ : हे कबीर ! मनुष्य आम तौर पर कुल-रीति के अनुसार ही चलता है, इस ख़याल से कि दुनियाँ क्या कहेगी (लोकाचार को छोड़कर भक्ति सतसंग वाले रास्ते पर नहीं आता, इस तरह) आत्मिक मौत मर जाता है। (यह नहीं सोचता कि) जब मौत आ गई (तब यह कुल-रीति तो अपने आप छूट जानी है, सिमरन-भक्ति से दूर रहकर जो परेशानी हासिल की, उसके कारण) किसका कुल बदनाम होगा ?।१६६।

हे कबीर ! (लोक-लाज में फंसकर भक्ति से दूर रहने वाले मनुष्य को कह—) हे मंदभागी मनुष्य ! बहुत अधिक लोक-लाज में रहने से (लोक-लाज में ही) डूब जायोगे (आत्मिक मौत मर जायोगे)। (यहाँ सदा बैठे नहीं रहना) जो मौत किसी पड़ौसी पर आ रही है, याद रख, वह तुझ पर भी आनी है।१६७।

कबीर भली मधूकरी, नाना बिधि को नाजु ॥
दावा काहू को नही, बडा देसु बड राजु ॥१६८॥

कबीर दावै दाझनु होतु है, निरदावै रहै निसंक ॥
जो जनु निरदावै रहै, सो गनै इंद्र सो रंक ॥१६९॥

नोट : कबीर जी श्लोक अंक १६८ में मांगकर खाने की हिदायत नहीं करते। कहते हैं कि जायदाद बनाना, उपलब्धियों की प्राप्ति आदि से भिक्षुओं की तरह मांगकर खाना अच्छा है क्योंकि जैसे जैसे मनुष्य जायदाद इकट्ठी करता है वैसे वैसे उसके अन्दर 'दाझनु' बढ़ती है। गुरु अमरदास जी ने भी सोरठि राग के एक शब्द में लिखा है :

"काचा धनु संचहि मूरख गावार ॥"

यह अजीब तमाशा है कि गुरुद्वारे जाकर श्री गुरु ग्रन्थ साहिब जी की तालीम तो हम यह सुनते हैं कि धन जोड़ना मूर्खों का काम है, इससे मांगकर खाना अच्छा है। लेकिन बाहर दुनियाँ में आकर हमारा सारा ज़ोर ही धन जोड़ने तथा जायदाद बनाने में लगता है। लेकिन साधारण मनुष्य धन जोड़ने का यत्न न करे तो और करे भी क्या ? बुढ़ापा, बिमारी, बच्चों की शिक्षा आदि कई आवश्यकतायें ऐसी हैं जो मनुष्य ने पूरी करनी हैं। मालूम पड़ता है कि भक्त कबीर जी तथा गुरु अमरदास जी भाईचारक प्रबंध तथा राज-प्रबंध में भी कई ख़ामियाँ देख रहे थे। यदि राज्य-प्रबंध ऐसा हो जहाँ प्रत्येक मानव-मात्र के बच्चों की तालीम तथा परवरिश, उसके अपने रोज़गार का पक्का होने का भरोसा, बिमारी तथा बुढ़ापे की आवश्यकतायें पूरी हो सकें तो आम तौर पर जायदाद आदि बनाने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। धक्का, धोखा आदि बहुत कम हो सकते हैं। स्वाभाविक ही हक्क की कमाई तथा ख़लकत से प्यार वाले रास्ते पर चला जा सकता है। इससे आगे धर्म की सिर्फ़ कठिन पगडंडी ही रह जाती है—लगन तथा रज़ा।

पद अर्थ : मधूकरी—घर घर से मांगी हुई भिक्षा। नाना बिधि को—कई किस्मों का। नाजु—अनाज, अन्न। दावा—जायदाद आदि का दावा, हक्क। काहू को—किसी (जायदाद) के साथ।१६८।

दावै—जायदाद बनाने से। दाझनु—ईर्ष्या। निसंक—निशंक, फ़िकर से रहित। इंद्र सो—इन्द्र देवता जैसों को। रंक—कंगाल।१६९।

अर्थ : हे कबीर ! (जायदादों की प्राप्तियों से भिक्षुक बनकर) घर घर से मांगी हुई रोटी खा लेनी अच्छी है, जिसमें (घर घर से मांगने के कारण) कई किस्मों का अन्न होता है। (भिक्षुक) किसी जायदाद पर दावा नहीं करता, सारा देश उसका अपना देश है, सारा राज्य उसका अपना राज्य है।१६८।

हे कबीर ! जायदाद आदि बनाने से मनुष्य के अन्दर ईर्ष्या-जलन पैदा होती है। जो मनुष्य कोई जायदाद आदि नहीं बनाता उसको कोई चिन्ता

फ़िकर नहीं रहता। जो मनुष्य जायदादों-स्वामित्व के चक्कर में नहीं फंसता वह इन्द्र देवता जैसों को भी कंगाल समझता है (अर्थात, वह किसी धनाढ्य आदि की ख़ुशामद नहीं करता फिरता) ।१६९।

कबीर पालि समुहा सरवरु भरा, पी न सकै कोई नीरु ॥
भाग बडे तै पाइओ, तूं भरि भरि पीउ कबीर ॥१७०॥

पद अर्थ : पालि—[Skt. पालि skirt, boundary] किनारा। समुहा—स+मुह, मुँह तक, नका-नक। पालि समुहा—किनारों तक नका-नक। सरवरु—तालाब। तै पाइओ—तूने (नीरु) खोज लिया है। भरि भरि—प्याले भर-भरकर ।१७०।

नोट : इस श्लोक में एक बहुत ही हसरत-भरी दुःखदाई बात बताते हैं। लोग 'दाझन' के कारण, अन्दर की प्यास-जलन के कारण पानी के बिना तड़प रहे हैं। पानी का तालाब भरा पड़ा है तथा नका-नक भरा पड़ा है, लेकिन किसी को दिखाई ही नहीं देता। यह सारा दोष किसका है ? जायदाद बनाने का, उपलब्धियों के पीछे भागने का। संसार के ज़रे ज़रे में प्रभु बसता हो, घट-घट में व्यापक हो, लेकिन लोग उपलब्धियों की प्राप्ति के कार्य में लगकर तृष्णा-अग्नि में जलते हुये उस घट-घट वासी को न पहचान सकें—यह कितनी हसरत-भरी घटना है।

अर्थ : हे कबीर ! सरोवर किनारों तक नका-नक (पानी से) भरा हुआ है, (लेकिन 'दावै दाझनु' के कारण यह पानी किसी को दिखता ही नहीं, इस लिये) कोई मनुष्य यह पानी पी नहीं सकता। हे कबीर ! (तू इस 'दाझन' से बच गया) अच्छे भाग्य से तुझे यह पानी दिख गया है, तू अब (प्याले) भर-भरकर पानी पी (मौज से श्वास-श्वास नाम जप) ।१७०।

कबीर परभाते तारे खिसहि, तिउ इहु खिसै सरीरु ॥
ए दुइ अखर ना खिसहि, सो गहि रहिओ कबीरु ॥१७१॥

पद अर्थ : परभाते—प्रभात के समय (जब सूर्य चढ़ने को आता है, सूर्य के तेज-प्रताप के कारण)। खिसहि—मध्यम पड़ते जाते हैं, (तारों

का) प्रकाश घटता जाता है। तिउ—उसी तरह 'दावै दाझनु' के कारण, उपलब्धियों के कारण पैदा हुई अन्दर की तपश के प्रभाव से। खिसै—क्षीण होता है। खिसै सरीरु—यह शरीर क्षीण होता जाता है, इस शरीर में से आत्मिक लौ कमज़ोर होती जाती है। ज्ञानेन्द्रियों में से प्रभु की ओर का झुकाव घटता जाता है। ए दुइ अखर ना खिसहि—'राम' नाम के दोनों अक्षर मध्यम नहीं पड़ते, परमात्मा के नाम के ऊपर स्वामित्व की तपश कोई प्रभाव नहीं डाल सकती (*नोट :* यहाँ 'दुइ अखर' से भाव है—राम का दो अक्षर वाला नाम, प्रभु का नाम)। गहि रहिओ—संभाली बैठा है।१७१।

अर्थ : हे कबीर ! (जैसे सूर्य के तेज-प्रताप के कारण) प्रभात के समय तारे (जो रात की स्थिर शान्ति में चमक रहे होते हैं) मध्यम पड़ते जाते हैं, वैसे ही स्वामित्व से पैदा हुई आन्तरिक तपश के कारण ज्ञानेन्द्रियों में से प्रभु की तरफ़ की लौ घटती जाती है। सिर्फ़ एक प्रभु का नाम ही है जो स्वामित्व की तपश के प्रभाव से परे रहता है। कबीर (दुनियाँ की उपलब्धियों की प्राप्ति के स्थान पर) उस नाम को संभाली बैठा है।१७१।

नोट : यहाँ शब्द 'गहि रहिओ' स्पष्ट रूप से अंक १६९ के 'दावे' की तरफ़ इशारा करता है।

कबीर कोठी काठ की, दहदिसि लागी आगि ॥
पंडित पंडित जलि मूए, मूरख उबरे भागि ॥१७२॥

नोट : शब्द 'पंडित' यहाँ 'ब्राह्मण' के लिये नहीं है, इसकी तुलना में शब्द 'मूर्ख' है। इसलिये शब्द पंडित का भाव है—वह मनुष्य जो अपने आप को बुद्धिमान् समझते हैं।

पद अर्थ : कोठी—("इहु जगु सचै की है कोठड़ी") जगत्। दिसि—तरफ़, दिशा। दहदिसि—दसों दिशाओं में, हर तरफ़। आगि लागी—'दावै दाझनु' लगी हुई है, जायदाद आदि बनाने के कारण मन में ईर्ष्या-द्वेष की आग लगी हुई है। मूरख—वे लोग जो जायदाद आदि बनाने की तरफ़ से बेपरवाह रहे। भागि—भागकर, इस 'दावै दाझनु' से परे हटकर।

अर्थ : हे कबीर ! यह जगत्, मानो लकड़ी का मकान है, जिसको हर तरफ़ से (उपलब्धियों की प्राप्ति की) आग लगी हुई है, (जो मनुष्य

अपनी तरफ़ से) बुद्धिमान् (बनकर इस आग में ही बैठे रहते हैं, वे) जल मरते हैं, (जो इन बुद्धिमानों की दृष्टि में) मूर्ख (हैं, वे) इस आग से दूर भागकर (जलने से) बच जाते हैं।१७२।

नोट : माया अनेक रूपों में मनुष्य को मोह रही है, मनुष्य इस माया की प्रत्येक मौज को अपनी मलकीयत बनाने की कोशिश करता है। इसलिये उपलब्धियों की प्राप्ति से पैदा हुई आन्तरिक आग, मानो हर तरफ़ लगी हुई है। दुनियाँ में बुद्धिमान् वही माने जाते हैं जो अधिक से अधिक कामयाब हों, अधिक से अधिक धन पदार्थ जोड़ें। जो इस उद्यम की तरफ़ से बेपरवाह रहते हैं उनको दुनियाँ मूर्ख कहती है।

सो, यहाँ यह भाव नहीं कि कबीर जी विद्या की तुलना में अनपढ़ता को अच्छा कह रहे हैं।

कबीर संसा दूरि करु, कागद देहि बिहाइ ॥
बावन अखर सोधि कै, हरि चरनी चितु लाइ ॥१७३॥

पद अर्थ : संसा—चिन्ता, 'दाझन'। कागद—काग़ज़ (अर्थात) दुनियाँ की चिन्ता वाले लेखे, 'दावै दाझनु' वाले लेखे। बिहाइ देहि—बहा दे, हरि-चरणों में चित्त जोड़ने का एक ऐसा प्रवाह चला दे कि 'दावै दाझनु' वाले लेखे उस नाम-प्रवाह में बह जायें। बावन अखर—बावन अक्षर (संस्कृत हिन्दी के बावन अक्षर हैं। हिन्दु कौम संस्कृत या हिन्दी द्वारा ही विद्या-प्राप्ति का उद्यम करती थी, सो 'बावन अखर' का भाव है—विद्या) विद्या। सोधि कै—(अपने आप को) सोध कर, विचारवान् बनकर।

अर्थ : हे कबीर! विद्या द्वारा विचारवान् बनकर प्रभु-चरणों में चित्त जोड़ (अर्थात, हे भाई ! यदि तुझे विद्या प्राप्त करने का अवसर मिला है तो उसके द्वारा दुनियाँ की मलकीयतों में परेशान होने की जगह विचारवान् बन तथा परमात्मा का सिमरन कर)। इस प्रभु-याद की बरकत से दुनियाँ वाले संशय-दाझन दूर कर, चिन्ता वाले सारे लेखे ही भक्ति के प्रवाह में बहा दे।१७३।

कबीर संतु न छाडै संतई, जउ कोटिक मिलहि असंत ॥
मलिआगरु भुयंगम बेढिओ, त सीतलता न तजंत ॥१७४॥

पद अर्थ : संतई—संत का स्वभाव, मन की शान्ति। जउ—चाहे। कोटिक—करोड़ों। असंत—विकारी लोग, वे लोग जिनके मन शान्त नहीं रहते। मलिआगरु—मलय पर्वत पर उगा हुआ चंदन का वृक्ष। भुयंगम—साँप। बेढिओ—घिरा हुआ।

अर्थ : हे कबीर ! (हरि-चरणों में चित्त लगाने की ही यह बरकत है कि) संत अपना शान्त स्वभाव नहीं छोड़ता, चाहे उसे करोड़ों बुरे लोग मिलते रहें (अर्थात, चाहें उन्हें करोड़ों बुरे लोगों के साथ व्यवहार करना पड़े)। चंदन का वृक्ष साँपों से घिरा रहता है लेकिन वह अपने अन्दर की शीतलता नहीं छोड़ता।१७४।

कबीर मनु सीतलु भइआ, पाइआ ब्रहम गिआनु ।।
जिनि जुआला जगु जारिआ, सु जन के उदक समानि ।।१७५।।

पद अर्थ : जिनि जुआला—जिस माया-आग ने। जारिआ—जला दिया है। सु—वह आग। जन के—जन के लिये, बंदगी करने वाले के लिये। उदक—जल। गिआनु—सूझ, जान-पहचान। ब्रहम—परमात्मा।

अर्थ : हे कबीर ! जब मनुष्य परमात्मा के साथ (सिमरन द्वारा) जान-पहचान बना लेता है तो (दुनियाँ के कार्य-व्यवहार करते हुये भी) उसका मन शीतल रहता है, शान्त रहता है। जिस (माया की मलकीयत की) आग ने सारा संसार जला दिया है, बंदगी करने वाले मनुष्य के लिये वह पानी (जैसी ठंडी) रहती है।१७५।

कबीर सारी सिरजनहार की, जानै नाही कोइ ।।
कै जानै आपन धनी, कै दासु दीवानी होइ ।।१७६।।

पद अर्थ : सारी—साजी हुई, बनाई हुई। सिरजनहार—सृष्टि बनाने वाला परमात्मा। जानै नाही कोइ—हर कोई नहीं जानता। कै—या। धनी आपन—मालिक प्रभु स्वयं। दीवानी—उसके दीवान में रहने वाला, उसकी हजूरी में रहने वाला।

अर्थ : हे कबीर ! यह बात प्रत्येक प्राणी-मात्र नहीं जानता कि यह (माया-रूप आग, जो सारे संसार को जला रही है) परमात्मा ने स्वयं बनाई

है। इस भेद को प्रभु स्वयं जानता है या वह भक्त जानता है जो सदा उसके चरणों में जुड़ा रहे, (सो हजूरी में रहने वाले को पता होता है कि माया की जलन से बचने के लिये माया को बनाने वाले के चरणों में जुड़े रहना ही सही तरीका है) ।१७६।

कबीर भली भई जो भउ परिआ, दिसा गई सभ भूलि ॥
ओरा गरि पानी भइआ, जाइ मिलिओ ढलि कूलि ॥१७७॥

नोट : वर्षा होने पर बारिश की बूँदें मिलकर नदी में जा मिलती हैं। लेकिन अधिक ठंड लग जाने पर वे बूँदें गड़े बन जाती हैं, ये गड़े आपस में से अलग होकर धरती पर इधर-उधर लुढ़कते हैं, जब इनको सेक लगे तो फिर पानी बनकर अपने मूल नदी के पानी में जा मिलते हैं।

माया मनुष्य के अन्दर कठोरता पैदा कर देती है, इंसानों के साथ रुष्ट तथा परमात्मा की तरफ़ से भी रुष्ट (रूखा), माया की भटकन में इधर-उधर ठोकरें खाता फिरता है। जब प्रभु का डर रूप सेक इसको लगता है तो दूसरे ठौर भुलाकर प्रभु-चरणों में आ जुड़ता है।

पद अर्थ : भली भई—(मनुष्य के मन की हालत) अच्छी हो जाती है। जो—जब। भउ—(परमात्मा का) डर, यह डर कि परमात्मा को भुलाकर माया के पीछे भटकने से कई ठोकरें खानी पड़ती हैं। दिसा—अन्य अन्य तरफ़ की भटकना। ओरा—गड़ा। गरि—(सेक से) गलकर। ढलि—ढलकर। कूलि—नदी।

अर्थ : हे कबीर ! जब मनुष्य के अन्दर (यह) डर पैदा होता है (कि परमात्मा को बिसारकर माया के पीछे भटकने से कई ठोकरें खानी पड़ती हैं) तो इसके (मन) की हालत अच्छी हो जाती है, इसको (परमात्मा के आसरे के बिना अन्य) सभी ठौर भूल जाते हैं। परमात्मा का डर मनुष्य के कठोर हुये मन के लिये, मानो सेक का काम देता है, जैसे (सेक लगने से) गड़ा पिघलकर फिर पानी बन जाता है, तथा ढलकर नदी में जा मिलता है।१७७।

कबीरा धूरि सकेलि कै, पुरीआ बांधी देह ॥
दिवस चारि को पेखना, अंति खेह की खेह ॥१७८॥

पद अर्थ : धूरि—धूल, मिट्टी। सकेलि कै—इकट्ठी करके। पुरीआ—नगरी। देह—शरीर। कै—का। पेखना—दिखने में सुन्दर। अंति—आख़िर में। खेह की खेह—मिट्टी से पैदा हुई फिर मिट्टी में ही जा मिली।

अर्थ : हे कबीर ! (जैसे मिट्टी इकट्ठी करके एक नगरी बसाई जाती है, वैसे ही पाँच तत्व इकट्ठा करके परमात्मा ने) यह शरीर रचा है। देखने में चार दिन तो यह सुन्दर लगता है, लेकिन आख़िर जिस मिट्टी से बना, उस मिट्टी में ही मिल जाता है।१७८।

कबीर सूरज चांद कै उदै, भई सभ देह ॥
गुर गोबिंद के बिनु मिले, पलटि भई सभ खेह ॥१७९॥

नोट : इस श्लोक को पिछले श्लोक के साथ मिलाकर पढ़ें। "अंति खेह की खेह" तथा "पलटि भई सभ खेह" से साफ़ दिखाई देता है कि दोनों श्लोकों पर एक साथ विचार करना है।

चाहे यह नगरी चार दिनों के लिये ही है लेकिन इसमें सूर्य का प्रकाश होना चाहिये। इसमें चन्द्रमा की ठंडी मीठी किरणें पड़नी चाहियें। तथा सूर्य वाला प्रकाश तथा चन्द्रमा वाली शीतलता तभी उदय हो सकती है यदि गुरु मिले तथा गुरु द्वारा परमात्मा मिले।

श्लोक अंक १७४ से लेकर १७७ तक ध्यान से पढ़ें। जीव के चारों तरफ़ विकारों की तपश है। इसको अन्तरात्मा में चन्द्रमा वाली ठंडक की आवश्यकता है, जैसे चंदन को उसके अपने अन्दर की शीतलता साँपों के ज़हर से बचाये रखती है। माया के प्रभाव के नीचे सदा यह ख़तरा बना रहता है कि जीव गड़े जैसा कठोर न बन जाये, इसको अन्तरात्मा में सूर्य की गर्मी की आवश्यकता है। यह गर्मी (प्यार) तथा यह शीतलता गुरु परमात्मा के चरणों में जुड़ने से ही मिलते हैं।

पद अर्थ : सूरज चांद कै उदै—सूर्य तथा चन्द्रमा के प्रकाश की ख़ातिर।

अर्थ : हे कबीर ! (पाँच तत्वों से यह) शरीर-रचना इस लिये हुई है कि इसमें सूर्य तथा चन्द्रमा का उदय हो (अर्थात, नम्रता तथा शीतलता पैदा हो, लेकिन ये गुण तभी पैदा हो सकते हैं यदि गुरु मिले तथा गुरु

द्वारा गोबिन्द के चरणों में जुड़ा जाये)। गुरु परमात्मा के मेल के बिना यह शरीर फिर मिट्टी का मिट्टी ही हो जाता है (अर्थात, यह मानव शरीर बिलकुल व्यर्थ ही चला जाता है)।१७९।

जह अनभउ तह भै नही, जह भउ तह हरि नाहि ।।
कहिओ कबीर बिचारि कै, संत सुनहु मन माहि ।।१८०।।

कबीर जिनहु किछू जानिआ नही, तिन सुख नीद बिहाइ ।।
हमहु जु बूझा बूझना, पूरी परी बलाइ ।।१८१।।

पद अर्थ : जह—जहाँ, जिस हृदय में। अनभउ—अन्दर की सूझ, ज्ञान, ज़िन्दगी के सही रास्ते की समझ। भै—दुनियाँ वाले डर-फ़िकर। भउ—सहम, शंकायें। सुनहु मन माहि—मन लगाकर सुनो, ध्यान से सुनो।१८०।

तिन बिहाइ—उनकी उम्र गुज़रती है। सुख नीद—(संशों सहमों में पड़े रहने से भी) ग़फ़्लत की नींद में, बेपरवाही में। बूझा—समझ लिया। बूझना—समझने-योग्य बात कि "जह अनभउ तह भै नही, जह भउ तह हरि नाहि"। पूरी परी बलाइ—पूरी बला गले में पड़ गई है, संसार के संशों का मुकाबला करने का कठिन कार्य कभी भूलता नहीं। (*नोट :* यहाँ यह भाव नहीं कि कबीर जी इस रास्ते पर चलना पसंद नहीं करते। कबीर जी कहते हैं कि लोग तो इन कामादि की चोटें खाते हुये तथा हाय हाय करते हुये भी बेपरवाह बन रहे हैं, लेकिन मैं दिन-रात इनका मुकाबला कर रहा हूँ, वैसे यह काम बहुत ही कठिन है)।१८१।

अर्थ : हे संत-जनों ! ध्यान से सुनो, मैं कबीर यह बात विचारकर कह रहा हूँ—जिस हृदय में ज़िन्दगी के सही रास्ते की समझ पैदा हो जाती है, वहाँ (दाझन, संशय, कठोरता, आदि) कोई ख़तरा नहीं रह जाता। लेकिन जिस हृदय में अभी (शांत जीवन को भुला देने के लिये खीझ, सहम, बेरहमी, आदि) कोई डर मौजूद है, वहाँ परमात्मा का निवास नहीं हुआ।१८०।

हे कबीर ! जिन लोगों ने (जीवन के इस भेद को) ज़रा भी नहीं

समझा, वे (इस दाझन, संशय, कठोरता, आदि में बिलखते हुये भी) बेपरवाही में उम्र गुज़ार रहे हैं। (लेकिन 'गुरु गोबिन्द' की कृपा से) मैंने यह बात समझ ली है कि "जह अनभउ तह भै नही, जह भउ तह हरि नाहि"। मुझे यह बात कभी किसी समय भी भूलती नहीं।१८१।

कबीर मारे बहुतु पुकारिआ, पीर पुकारै अउर ॥
लागी चोट मरंम की, रहिओ कबीरा ठउर ॥१८२॥

कबीर चोट सुहेली सेल की, लागत लेइ उसास ॥
चोट सहारै सबद की, तासु गुरू मै दास ॥१८३॥

पद अर्थ : मारे—जिसको ('दाझन, संशय' आदि की) मार पड़ती है। बहुतु पुकारिआ—वह बहुत हाहाकार करता है, बहुत दुःखी होता है। पीर—पीड़ा, चोट। पीर पुकारै अउर—जैसे जैसे (दाझन, संशय आदि की) पीड़ा उठती है तैसे तैसे और और पुकारता है, और दुःखी होता है। चोट—शब्द की चोट। मरंम की—मर्म की, दिल को बेंधने वाली। रहिओ ठउर—स्थान पर ही रह गया हूँ, पुकार-योग्य रहा ही नहीं, न 'दाझन संशय' आदि मारते हैं तथा न मैं पुकारता हूँ।१८२।

सेल—बरछा, गुरु का शब्द-रूप बरछा। सुहेली—सुख देने वाली (*नोट :* दाझन, संशय, आदि की चोट तो दुःखी करती ही है मगर गुरु के शब्द-रूप बरछे की चोट सुख पहुँचाती है)। लेइ उसास—गहरे सांस लेता है, प्रभु को मिलने की इच्छा पैदा होती है।१८३।

नोट : गउड़ी राग में कबीर जी प्रभु-चरणों के प्रेमी की हालत एक विरहिणी नारी जैसी बताते हैं, प्रदेश गये पति का वह नारी राह देखती है, उसकी आँखें वैराग्य रूप जल से भर जाती हैं, वह गहरे सांस लेती है लेकिन उनमें से भी धैर्य मिलता है, क्योंकि राह देखती का दिल तृप्त नहीं होता, वह देखती जाती है :

पंथु निहारै कामिनी, लोचन भरीले उसासा ॥
उरु न भिजै पगु न खिसै, हरि दरसन की आसा ॥१॥

(गउड़ी कबीर जी, पन्ना ३३७-३८)

अर्थ : हे कबीर ! जिस मनुष्य को (दाझन, संशय, आदि की) मार पड़ती है, वह बहुत हाहाकार करता है, जैसे जैसे वह पीड़ा उठती है तैसे तैसे और दुःखी होता है (लेकिन फिर भी माया की ख़ातिर भटकता है, माया को छोड़ता नहीं)। मुझे कबीर को गुरु के शब्द की चोट पड़ी है, जिसने मेरा दिल बीघ दिया है, अब मैं असल जगह (अर्थात, प्रभु-चरणों में) टिक गया हूँ (मुझे यह दाझन, संशय, आदि दुःखी कर ही नहीं सकते) ।१८२।

हे कबीर ! (गुरु के शब्द-रूप) नेज़े (बरछे) की चोट है भी सुखदाई। जिस मनुष्य को यह चोट पड़ती है (विरहिणी नारी की तरह उसके अन्दर) पति-प्रभु को मिलने की तांघ (इच्छा) पैदा हो जाती है। जो (भाग्यशाली मनुष्य गुरु-शब्द की चोट खाता रहता है, उस पूजनीय मनुष्य का मैं (हर समय) दास (बनने को तैयार) हूँ।१८३।

कबीर मुलां मुनारे किआ चढहि, सांई न बहरा होइ ॥
जा कारनि तूं बांग देहि, दिल ही भीतरि जोइ ॥१८४॥

सेख सबूरी बाहरा, किआ हज काबै जाइ ॥
कबीर जा की दिल साबति नही, ता कउ कहां खुदाइ ॥१८५॥

कबीर अलह की करि बंदगी, जिह सिमरत दुखु जाइ ॥
दिल महि सांई परगटै, बुझै बलंती नांइ ॥१८६॥

कबीर जोरी कीए जुलमु है, कहता नाउ हलालु ॥
दफतरि लेखा मांगीऐ, तब होइगो कउनु हवालु ॥१८७॥

कबीर खूबु खाना खीचरी, जा महि अंम्रितु लोनु ॥
हेरा रोटी कारने, गला कटावै कउनु ॥१८८॥

नोट : कोई भी मज़हब-धर्म हो, इंसान के लिये वह तब तक ही लाभदायक है, जब तक उसके बताये नुकतों पर चलकर मनुष्य अपने दिल में भलाई पैदा करने की कोशिश करता है, ख़ालिक तथा उसकी ख़लकत

के लिये दिल में मुहब्बत रखता है। जब मनुष्य रस्मी तौर पर मज़हब के उसूलों तथा रस्मों को करने लग जाता है, लेकिन यह नहीं देखता कि दिल में कोई अच्छी तबदीली आई है या नहीं, या कहीं भलाई की जगह अन्दर कठोरता आदि तो नहीं बढ़ रहे, उस समय उसके सारे धार्मिक उद्यम व्यर्थ हो जाते हैं।

पठानों मुग़लों के राज्य के समय हमारे देश में इस्लामी शरह का कानून चलता था। भारत-वासियों के लिये तथा सामान्य मुग़ल पठानों के लिये भी अरबी बोली बेगाने देश की बोली थी, सो, हरेक मुसलमान कुरान शरीफ़ को नहीं समझ सकता था, इसका नतीजा यह निकला कि जहाँ तक कानून के प्रयोग का संबंध था, राजकीय ताकत काज़ियों तथा मौलवियों के हाथ में थी क्योंकि ये लोग कुरान शरीफ़ के अर्थ करने में विश्वसनीय समझे जाते थे। एक तरफ़ ये लोग राजकीय ताकत के मालिक, दूसरी तरफ़ यही लोग धार्मिक नेता, सामान्य लोगों को जीवन का सही रास्ता बताने वाले। यही दोनों विरोधी बातें इकट्ठी हो गई। राज्य-प्रबंध चलाते समय ग़ुलाम हिन्दु कौम के साथ कठोरता का व्यवहार करना इन लोगों के लिये स्वाभाविक था। लेकिन इस कठोरता को अपनी तरफ़ से ये लोग इस्लामी शरह समझते तथा बताते थे। सो मज़हब में से इनको स्वाभाविक ही दिल की कठोरता ही मिलती गई। जिस भी देश में राज्य-प्रबंध किसी ख़ास मज़हब के उसूलों के अनुसार चलाया जाता रहा है, उस मज़हब के प्रचारकों का यही हाल होता रहा है।

कबीर जी अपने समय के काज़ियों मौलवियों की यह हालत देखकर इन श्लोकों में कह रहे हैं कि मज़हब ने, मज़हब की रीति ने, बांग नमाज़ हज आदि ने, दिल की सफ़ाई सिखानी थी लेकिन यदि रिश्वत, कठोरता आदि के कारण दिल निर्दयी हो चुका है, यही दिल को और कठोर बनाये जा रहे हैं तो इनके करने का कोई लाभ नहीं। यही ख़याल कबीर जी ने प्रभाती राग के शब्द अंक ४ में बताया है :

मुलां, कहहु निआउ खुदाई ॥
तेरे मन का भरमु न जाई ॥१॥रहाउ॥

पकरि जीउ आनिआ, देह बिनासी, माटी कउ बिसमिलि कीआ ।।
जोति सरूप अनाहत लागी, कहु हलालु किआ कीआ ।।२।।
किआ उजू पाकु कीआ मुहु धोइआ, किआ मसीति सिरु लाइआ ।।
जउ दिल महि कपटु निवाज गुजारहु, किआ हज काबै जाइआ ।।३।।

पद अर्थ : मुलां—हे मुल्ला! किआ चढहि—चढ़ने का कोई फ़ायदा नहीं। मुनारे किआ चढहि—मुनार पर चढ़ने का तुझे स्वयं को कोई लाभ नहीं, बांग देने का तुझे स्वयं को कोई लाभ नहीं (*नोट :* मुल्ला मुनार पर चढ़कर बांग देता है ताकि मुसलमान सुनकर नमाज़ पढ़ने के लिये मस्जिद में आ जायें। लेकिन यदि उसके अपने दिल में कठोरता है, तो यहाँ तक उसकी अपनी जाति का संबंध है, उसको इस बांग देने का अपने आप को कोई लाभ नहीं होता। परमात्मा दिल में बसता है, यदि वह बसता दिखाई दे जाये तो दिल में विनम्रता तथा प्यार होना चाहिये। यदि यह अवस्था नहीं बनी तो ऊँचा बोलने से परमात्मा को हम धोखा नहीं दे सकते)। बहरा—बहरा (*नोट :* बहरे को ज़ोर से आदर-प्यार की बात कहकर, मगर धीरे धीरे गालियाँ निकालकर ठगा जा सकता है, लेकिन परमात्मा तो दिल की हालत भी समझता है, उसे नहीं ठगा जा सकता)। जा कारनि—जिस परमात्मा की नमाज़ के कारण। जोइ—देख, ढूँढ़ ।१८४।

सबूरी—संतोष। दिल साबति—दिल की अडोलता। ता कउ—उसके लिये। कहां खुदाइ—परमात्मा कहीं भी नहीं।१८५।

बलंती—जलती आग, तृष्णा की जलती आग। नांइ—नाम द्वारा।१८६।

जोरी कीए—ज़बरदस्ती करने से। हलालु—जायज़, भेंट करने योग्य, परमात्मा के नाम पर कुर्बानी देने लायक।१८७।

खूबु खाना—अच्छी ख़ुराक। लोनु—नमक। हेरा—माँस। कारने—नीयत से। कटावै कउनु—मैं काटने को तैयार नहीं हूँ।१८८।

अर्थ : हे कबीर ! (कह—) हे मुल्ला ! मस्जिद की मुनार पर चढ़ने का तुझे अपने आप को तो कोई फ़ायदा नहीं हो रहा। जिस (परमात्मा की नमाज़) की ख़ातिर तू बांग दे रहा है, उसको अपने दिल में देख (तेरे अन्दर ही बस रहा है, यदि तेरे अपने अन्दर शान्ति नहीं, सिर्फ़ लोगों

को ही बुला रहा है, तो) ख़ुदा बहरा नहीं (वह तेरे दिल की हालत भी जानता है, उसको ठगा नहीं जा सकता) ।१८४।

हे शेख़ ! यदि तेरे अपने अन्दर संतोष नहीं तो काबे हज करने के लिये जाने का कोई लाभ नहीं क्योंकि हे कबीर ! जिस मनुष्य के अपने ही दिल में शान्ति नहीं आई उसके लिये परमात्मा कहीं भी नहीं है ।१८५।

हे कबीर ! परमात्मा की बंदगी कर, बंदगी करने से ही दिल का विकार दूर होता है, दिल में परमात्मा प्रकट होता है तथा इस बंदगी की बरकत से लालच की जलती आग दिल में से बुझ जाती है ।१८६।

हे कबीर ! (मुल्ला को बता कि) किसी पर ज़बरदस्ती करना ज़ुल्म है (तू जानवर को पकड़कर बिसमिल्ला कहकर ज़बह करता है तथा) तू कहता है कि यह (ज़बह किया जानवर) परमात्मा के नाम पर कुर्बानी देने के लायक हो गया है (तथा इस कुर्बानी से ख़ुदा तेरे पर ख़ुश हो गया है), (लेकिन यह माँस तू आप ही खा लेता है, इस तरह पाप माफ़ नहीं होते, कभी सोच कि) जब परमात्मा की दरगाह में तेरे कर्मों का हिसाब होगा तो तेरा क्या हाल होगा ।१८७।

हे कबीर ! (मुल्ला को बेशक कह कि कुर्बानी के बहाने माँस खाने से) खिचड़ी खा लेनी अच्छी है, जिसमें सिर्फ़ स्वाद-युक्त नमक ही डाला हो। मैं तो इस बात के लिये तैयार नहीं हूँ कि माँस-रोटी खाने की नीयत मेरी अपनी हो, लेकिन (कुर्बानी की बात कहकर किसी पशु को) ज़बह करता फिरूँ ।१८८।

कबीर गुरु लागा तब जानीऐ, मिटै मोहु तन ताप ।।
हरख सोग दाझै नही, तब हरि आपहि आप ।।१८९।।

कबीर राम कहन महि भेदु है, ता महि एकु बिचारु ।।
सोई रामु सभै कहहि, सोई कउतकहार ।।१९०।।

कबीर रामै राम कहु, कहिबे माहि बिबेक ।।
एकु अनेकहि मिलि गइआ, एक समाना एक ।।१९१।।

नोट : पिछले पाँच श्लोक काज़ियों, मौलवियों की कमी बताने के लिये थे। अगले श्लोकों में ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न किये गये भ्रम की ओर ध्यान दिलाते हैं।

पद अर्थ : तब जानीऐ—तब जानो, तभी यह समझो। गुरु लागा—गुरु मिल गया है। तन ताप—शरीर के क्लेश, शरीर को जलाने वाले दुःख-क्लेश। हरख—ख़ुशी। सोग—चिन्ता। दाझै नही—न जलाये। आपहि आप—प्रत्येक जगह आप ही आप दिखता है।१८९।

भेदु—फ़र्क। एकु बिचारु—एक ख़ास समझने वाली बात। सभै—सभी जीव। सोई—वही राम, उसी राम को। कउतकहार—रासधारिये।१९०।

रामै राम कहु—हर समय राम का नाम सिमर। बिबेक—परख, पहचान। कहिबे माहि—कहने में, सिमरन में। अनेकहि—अनेक जीवों में। समाना एक—सिर्फ़ एक शरीर में टिका हुआ था।१९१।

अर्थ : हे कबीर ! (जनेऊ आदि पहनकर हिन्दु समझता है कि मैंने अमुक ब्राह्मण को अपना गुरु धार लिया है, लेकिन) तब समझो कि गुरु मिल गया है जब (गुरु धारण करने वाले मनुष्य के दिल में से) माया का मोह दूर हो जाये, जब शरीर को जलाने वाले क्लेश मिट जायें, जब हर्ष-शोक कुछ भी चित्त को न जलाये। ऐसी हालत में पहुँचने पर प्रत्येक स्थान पर परमात्मा स्वयं ही दिखाई देता है।१८९।

हे कबीर ! (जनेऊ देकर ब्राह्मण राम की पूजा-पाठ का उपदेश भी करता है लेकिन) राम राम कहने में भी फ़र्क पड़ जाता है, इसमें भी एक बात समझने वाली है। एक राम तो वह है जिसको प्रत्येक जीव सिमरता है (यह है सर्व-व्यापी राम, इसका सिमरन करना मानव-मात्र का फ़र्ज़ है)। यही राम-नाम रासधारिये भी (रासों में स्वांग बना-बनाकर) लेते हैं (यह राम अवतारी राम है तथा राजा दशरथ का पुत्र है, यह मुर्ति पूजा व्यर्थ है)।१९०।

हे कबीर ! सदा राम का नाम जप, लेकिन जपते समय यह बात याद रखनी कि एक राम तो अनेक जीवों में व्यापक है (इसका नाम जपना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है) लेकिन एक राम (दशरथ का पुत्र) सिर्फ़ एक शरीर में ही आया (अवतार बना, इसका जाप कोई गुण नहीं कर सकता)।१९१।

कबीर जा घर साध न सेवीअहि, हरि की सेवा नाहि ।।
ते घर मरहट सारखे, भूत बसहि तिन माहि ।।१९२।।

पद अर्थ : जा घर—जिन घरों में। साध—भले मानव, वे मनुष्य जिन्होंने अपने मन को साध लिया है, सतसंगी। न सेवीअहि—सेवा नहीं की जाती। सेवा—पूजा, भक्ति। ते घर—वे (सारे) घर। मरहट—मरघट, श्मशान। सारखे—जैसे।

अर्थ : हे कबीर ! (ठाकुरों की पूजा तथा प्रत्येक दिन-त्यौहार के समय ब्राह्मण की सेवा—बस ! यही है शिक्षा जो ब्राह्मण देवता अपने श्रद्धालुओं को दे रहा है। श्रद्धालु बेचारे भी ठाकुर-पूजा तथा ब्राह्मणों की सेवा कर के अपने आप को बुद्धिमान् तथा सच्चे हिन्दू समझ लेते हैं, लेकिन असल बात तो यह है कि (जिन घरों में नेक लोगों की सेवा नहीं होती, तथा परमात्मा की भक्ति नहीं की जाती, वे घर (चाहे कितने ही पवित्र तथा साफ़ रखे जाते हों) मरघट जैसे हैं, उन घरों में (मनुष्य नहीं, भूत-प्रेत बसते हैं ।१९२।

कबीर गूंगा हूआ बावरा, बहरा हूआ कान ।।
पावहु ते पिंगुल भइआ, मारिआ सतिगुर बान ।।१९३।।

कबीर सतिगुर सूरमे, बाहिआ बानु जु एकु ।।
लागत ही भुइ गिरि परिआ, परा करेजे छेकु ।।१९४।।

नोट : श्लोक अंक १८९ से लेकर कबीर जी कह रहे हैं कि ब्राह्मण से जनेऊ डलवाकर, उसको गुरु धारण कर ठाकुर-पूजा तथा दिन-त्यौहार के समय ब्राह्मण की सेवा को हिन्दु अपना मुख्य धर्म समझ लेता है, लेकिन असल बात की ओर कभी ध्यान नहीं देता कि जीवन में क्या फ़र्क पड़ा है। पर-निन्दा करनी तथा सुननी, विकारों की तरफ़ जाना, अहंकार—ऐसे मंद-कर्मों को त्यागने का ख़याल भी नहीं आता। फिर भी समझता है कि मैं गुरु पुरोहित वाला हूँ। जिनको सतिगुरु मिलता है, उनमें ये विकार रह ही नहीं सकते, वे हर समय प्रभु-चरणों में जुड़े रहते हैं।

पद अर्थ : गूंगा—(अर्थात,) जो अपनी जीभ से झूठ या बुरा वचन

नहीं बोलता, पर-निन्दा नहीं करता। बावरा—बे-समझ, भोला। बहरा—बहरा, जो पर-निन्दा नहीं सुनता। पिंगुल—लूला। पावहु ते—पैरों से (अर्थात, उन स्थानों पर नहीं जाता जहाँ बुरे कर्म होते हैं)। बान—बाण, शब्द का तीर।१९३।

भुइ—धरती पर, मिट्टी में। भुइ गिरि परिआ—(अर्थात,) अहंकार से रहित हो गया। परा करेजे छेकु—कलेजे में छेक हो गया, हृदय शब्द से बिंध गया, हृदय प्रभु-चरणों में लीन हो गया। सूरमा सतिगुरु—वह गुरु जो स्वयं इन कामादि वैरियों का मुकाबला सूरमों की तरह कर सकता है तथा करता है।१९४।

अर्थ : हे कबीर ! (जनेऊ डालकर ब्राह्मण को गुरु धारकर ठाकुर पूजा तथा प्रत्येक दिन-त्यौहार के समय ब्राह्मण की ही पूजा-सेवा कर गुरु वाला नहीं बना जा सकता; जिसको सचमुच पूरा गुरु मिलता है, उसका सारा जीवन ही बदल जाता है) जिस मनुष्य के हृदय में सतिगुरु अपने शब्द का तीर मारता है, वह दुनियाँ के लिये गूंगा, कमला, बहरा तथा लूला हो जाता है (क्योंकि वह मनुष्य मुँह से बुरे वचन नहीं बोलता, वह किसी का मोहताज नहीं होता, कानों से निन्दा नहीं सुनता तथा पैरों से बुरे कार्यों की तरफ़ चलकर नहीं जाता)।१९३।

हे कबीर ! जिस मनुष्य को सूरमा सतिगुरु अपने शब्द का एक तीर मारता है, तीर लगने से ही वह मनुष्य अहंकार रहित हो जाता है, उसका हृदय प्रभु-चरणों में लीन हो जाता है।१९४।

कबीर निरमल बूंद अकास की, परि गई भूमि बिकार ॥
बिनु संगति इउ मानई, होइ गई भठ छार ॥१९५॥

कबीर निरमल बूंद अकास की, लीनी भूमि मिलाइ ॥
अनिक सिआने पचि गए, ना निरवारी जाइ ॥१९६॥

नोट : वर्षा होती है तो बादलों से बूँदें प्रत्येक किसम की धरती पर पड़ती हैं, कहीं नकारी या रेतली धरती है, जहाँ कुछ भी पैदा नहीं होता, यहाँ पड़ने वाली बूँदें बुरी धरती की संगति के कारण कुछ नहीं संवारतीं,

बल्कि अपना आप ही गँवा देती हैं। कहीं ताकत वाली ज़मीन है जिसमें फ़सल, बाग़-बग़ीचे आदि सुन्दर लहराते हैं, इस ज़मीन में पड़ी हुईं बूँदें सृष्टि की ओर अधिक सेवा कर अपना आप संवार लेती हैं, क्योंकि बुद्धिमान् ज़मींदार हल चलाकर, सुहागा फेरकर धरती को संवार-बनाकर वर्षा के पानी को उस धरती में अच्छी तरह मिला लेता है।

यही हाल मनुष्य का है। जीवात्मा उच्च मंडलों में बसते परम-आत्मा का अंश है। जन्म लेकर जीव इस धरती पर आता है, यदि कहीं विकारियों की संगति में बैठ जाये, तो अपना आप भी गँवा जाता है तथा किसी अन्य की भी कोई सेवा नहीं कर सकता, लेकिन यदि परमात्मा की कृपा हो, इसको गुरु मिल जाये तो गुरु इसकी शरीर-धरती को ऐसे संवार देता है, इसके ज्ञानेन्द्रियों-रूप साथियों को ऐसा बना देता है कि यह अपना जीवन भी सफल कर लेता है, तथा अन्यों की भी सेवा करता है। कोई विकार, कोई कुसंग इसको इस सुन्दर रास्ते से उखाड़ नहीं सकता।

पद अर्थ : निरमल—साफ़, पवित्र। अकास की बूंद—आकाश से गिरने वाली वर्षा की बूँद (उच्च मंडलों में रहने वाले परमात्मा का अंश)। परि गई—गिर पड़ी। भूमि बिकार—नकारी धरती में। इउ—इस तरह। मानई—मनुष्य। भठ छार—जलते भट्ठे की राख।१९५।

लीनी मिलाइ—(हल सुहागे आदि द्वारा संवारी हुई ज़मीन में) मिला लेता है। निरवारी ना जाइ—आकाशीय बूँद उस धरती से अलग नहीं की जा सकती। पचि गए—कोशिश करके थक टूट गये।१९६।

अर्थ : हे कबीर ! (वर्षा के समय) आकाश (से बारिश) की जो साफ़ बूँद नकारी धरती में गिर पड़ी (वह किसी का कुछ संवार न सकी, बल्कि स्वयं भी) वह मानो (जलते) भट्ठे की राख हो गई। यही हाल संगति के बिना मनुष्य का होता है (परम पवित्र परमात्मा की अंश जीव जन्म लेकर यदि कुसंग में फंस गया तो सृष्टि की कोई सेवा करने की जगह आप भी विकारों में जलकर मर गया)।१९५।

हे कबीर ! (वर्षा के समय) आकाश (से वर्षा) की जिस साफ़ बूँद को (बुद्धिमान् ज़मींदार ने हल आदि से वाह-बनाकर संवारी हुई अपनी) ज़मीन में (बट-किनारा ठीक कर) मिला लिया, वह बूँद ज़मीन से अलग

नहीं की जा सकती, चाहे अनेक बुद्धिमान् कोशिश कर थक जायें (*नोट :* कलर, बिना वाही धरती पर पड़ा वर्षा का जल धरती पर जाला बन जाने के कारण बहुत कम समाता है)।

(यही हाल मनुष्य का समझो। पूरे गुरु की कृपा से उसकी जीभ, कान आदि इन्द्रियाँ पर-निन्दा आदि विकारों की तरफ़ से हट जाती हैं। इस संवारी हुई शरीर-धरती द्वारा वह मनुष्य प्रभु-चरणों में ऐसा जुड़ता है कि कोई विकार उसको वहाँ से अलग नहीं कर सकता)।१९६।

नोट : अंक १८४ से १८८ तक के पाँच श्लोकों में कबीर जी ने इस्लामी शरह, बांग, नमाज़, हज तथा कुर्बानी का ज़िकर किया है, इसलिये यहाँ शब्द भी आम तौर पर मुसलमानी ही प्रयुक्त किये हैं।

अंक १८९ से १९६ तक आठ श्लोकों में ब्राह्मणों के रस्मी गुरु बनने तथा मूर्ति-पूजा का ज़िकर है।

आगे श्लोक अंक १९७ से २०१ तक, में फिर 'कुर्बानी' देने का ज़िकर है। यहाँ पर सभी लफ़्ज़ तथा ख़याल आम तौर पर मुसलमानी हैं।

कबीर हज काबै हउ जाइ था, आगै मिलिआ खुदाइ ॥
सांई मुझ सिउ लरि परिआ, तुझै किन्हि फुरमाई गाइ ॥१९७॥

कबीर हज काबै होइ होइ गइआ, केती बार कबीर ॥
सांई मुझ महि किआ खता, मुखहु न बोलै पीर ॥१९८॥

कबीर जीअ जु मारहि जोरु करि, कहते हहि जु हलालु ॥
दफतरु दई जब काढि है, होइगा कउनु हवालु ॥१९९॥

कबीर जोरु कीआ सो जुलमु है, लेइ जबाबु खुदाइ ॥
दफतर लेखा नीकसै, मार मुहै मुहि खाइ ॥२००॥

कबीर लेखा देना सुहेला, जउ दिल सूची होइ ॥
उसु साचे दीबान महि, पला न पकरै कोइ ॥२०१॥

नोट : कबीर जी की वाणी पर विचार करते हुये अब तक हम अच्छी

तरह देख आये हैं कि कबीर जी मुसलमान नहीं थे, वे हिन्दु जुलाहे थे। सो, उनको हज पर जाने की कोई आवश्यकता नहीं थी, किसी अन्य की कमी को यकीनी तौर पर तसल्ली से समझाने के लिये कविता में यह एक तरीका है कि अपने आप को भी वही काम करता ज़ाहर किया जाता है। हिन्दु कर्म-काण्ड का निषेध करते हुये सतिगुरु अर्जुन साहिब ने भी इसी तरह ही लिखा है:

पाठु पड़िओ अरु बेदु बीचारिओ, निवलि भुअंगम साधे ॥
पंच जना सिउ संगु न छुटकिओ, अधिक अंहबुधि बाधे ॥१॥
पिआरे इन बिधि मिलणु न जाई, मै कीए करम अनेका ॥
हारि परिओ सुआमी कै दुआरै, दीजै बुधि बिबेका ॥रहाउ॥

(सोरठि म: ५ असटपदीआ, पन्ना ६४१)

चूँकि आम मुसलमान काबे को ख़ुदा का घर मानता है, इसलिये कबीर जी भी वही ख़याल बताकर कहते हैं कि ख़ुदा मेरे हज पर ख़ुश होने के स्थान पर मेरे साथ ग़ुस्सा हो गया। अनेक बार हज करने पर भी ख़ुदा ख़ुश होकर क्यों हाजी को दीदार नहीं देता तथा वह हाजी ख़ुदा की निगाहों में अभी भी क्यों गुनहगार समझा जाता है—इस भेद का ज़िकर इन श्लोकों में किया गया है कि ख़ुदा के नाम पर गाय आदि की कुर्बानी दे देनी, मिल-जुलकर सब कुछ आप ही खा-पी जाना, तथा फिर यह समझ लेना कि इस कुर्बानी के बदले में हमारे गुनाह माफ़ कर दिये गये हैं—यह बहुत बड़ा भ्रम है। यह ख़ुदा को ख़ुश करने का तरीका नहीं। ख़ुदा ख़ुश होता है दिल की पवित्रता से।

नामदेव जी ने भी इसी तरह बीठुल मूर्ति के पुजारियों को ताड़ना की है तथा बताया है कि क्यों इतने नाक रगड़ने पर भी उनको बीठुल के दर्शन नहीं होते। कहते हैं कि आप पूजा आदि तो करते हो, लेकिन अपने इष्ट पर पूरी श्रद्धा नहीं रखते:

आजु नामे बीठलु देखिआ, मूरख को समझाऊ रे ॥रहाउ॥

(गोंड नामदेव जी, पन्ना ८७४)

पद अर्थ : हउ—मैं। जाइ था—जा रहा था। आगै—वहाँ गये को

आगे से। किन्हि—किसने। फुरमाई गाइ—गाय (ज़बह करने) का हुक्म दिया था। किन्हि फुरमाई गाइ—किसने कहा था कि मेरे नाम पर गाय ज़बह करो (तो पाप माफ़ कर दिये जायेंगे) ? किसने कहा था कि मेरे नाम पर गाय की कुर्बानी दो (तो माफ़ कर दिये जाओगे) ?।१९७।

होइ होइ गइआ—कई बार हुआ। साई—हे साईं ! पीर—हे पीर ! हे मुरशिद ! खता—दोष। हज काबै—काबे का हज।१९८।

जु—यदि। जीअ—जीवों को। जोरु—ज़बरदस्ती, धक्का। करि—करके। कहते हहि जु—पर कहते हैं कि। हलालु—जायज़, भेंट करने योग्य, परमात्मा के नाम पर कुर्बानी देने योग्य। दई—(सब जीवों से प्यार करने वाला) परमात्मा (*नोट :* इस शब्द 'दई' का प्रयोग यहाँ विशेष-रूप से रोचक तथा अर्थयुक्त है। जो लोग यह विश्वास रखते हैं कि ख़ुदा किसी कुर्बानी के देने से ख़ुश होता है तथा गुनाह माफ़ कर देता है, वे उसको 'रब्बिल आलमीन' भी कहते हैं। सारे आलम का पालक होते हुये वह उस गाय आदि पशु को भी पालता तथा प्रेम करता है। फिर यह कैसे हो सकता है कि वह उस मनुष्य से ख़ुश हो जो उसके ही प्यारे तथा पाले हुये को उसी की ही ख़ातिर ज़बह करे तथा स्वयं खा पीकर यह समझ ले कि वह कुर्बानी ख़ुदा को पहुँच गई है तथा उसने मेरे गुनाह माफ़ कर दिये हैं)। दफतरु काढि है—लेखा करेगा।१९९।

नीकसै—निकलता है। मुहै मुहि—मुँह पर, बार बार मुँह पर। खाइ—खाता है।२००।

दिल सूची—दिल की पवित्रता। दीबान—कचहरी। पला न पकरै कोइ—कोई व्यक्ति दामन नहीं पकड़ता, कोई एतराज़ नहीं करता।२०१।

अर्थ : हे कबीर ! मैं काबे का हज करने जा रहा था, वहाँ गये को आगे ख़ुदा मिल पड़ा। वह मेरा साईं (ख़ुदा ख़ुश होने की जगह कि मैं उसका दीदार करने आया हूँ) मेरे पर ग़ुस्सा हुआ (तथा कहने लगा) कि मैंने तो यह हुक्म नहीं दिया कि मेरे नाम पर तुम गाय (आदि) की कुर्बानी दो (तथा मैं तेरे गुनाह बख़्श दूँगा)।१९७।

हे कबीर ! (कह—) मैं कई बार, हे साईं ! तेरे (घर) काबे का दीदार करने गया हूँ। लेकिन हे ख़ुदा ! तू मेरे साथ बात ही नहीं करता, मेरे में तू

क्या दोष देख रहा है ? (जो हज तथा कुर्बानी के साथ भी माफ़ नहीं किया गया ?) (अर्थात, हज तथा कुर्बानी से ख़ुदा ख़ुश नहीं होता) ।१९८।

हे कबीर ! जो लोग ज़बरदस्ती (गाय आदि) जीवों को मारते हैं, लेकिन यह कहते हैं कि (यह ज़बह किया हुआ माँस) ख़ुदा के नाम पर कुर्बानी के लायक हो गया है, जब सब जीवों से प्रेम करने वाला ख़ुदा (इन लोगों से) अमलों का लेखा मांगेगा, तो इनका क्या हाल होगा ? (अर्थात, कुर्बानी देने से गुनाह माफ़ नहीं किये जाते) ।१९९।

(***नोट :*** यहाँ माँस खाने या न खाने पर बहस नहीं है। कबीर जी सिर्फ़ यह कहते हैं कि कुर्बानी देने वाले खा पी तो स्वयं ही जाते हैं लेकिन मान यह लेते हैं कि ख़ुदा के आगे भेंट किया गया है तथा ख़ुदा ने हमारे पाप माफ़ कर दिये हैं। ख़ुदा को ख़ुश करने की जगह यह तो उलटा उसको नाराज़ करने वाली बात है।)

हे कबीर ! जो भी मनुष्य किसी पर धक्का (ज़बरदस्ती) करता है, वह ज़ुल्म करता है; (तथा ज़ुल्म का) लेखा ख़ुदा मांगता है। जिस किसी की भी लेखे में बाकी निकलती है वह बड़ी सज़ा भोगता है।२००।

(***नोट :*** किये गुनाह को 'कुर्बानी' देकर धोया नहीं जा सकता।)

हे कबीर ! (वह परमात्मा मनुष्य से सिर्फ़ दिल की पवित्रता की कुर्बानी मांगता है) यदि मनुष्य के दिल की पवित्रता कायम हो तो अपने किये अमलों का लेखा देना आसान हो जाता है। (इस पवित्रता की बरकत से) उस सच्ची कचहरी में कोई रोक टोक नहीं करता।२०१।

कबीर धरती अरु आकास महि, दुइ तूं बरी अबध ।।
खट दरसन संसे परे, अरु चउरासीह सिध ।।२०२।।

पद अर्थ : धरती अरु आकास महि—सारी सृष्टि में। दुइ—हे द्वैत ! अबध—अ+बध, अवध्य, जिसका नाश न किया जा सके। तूं बरी अबध—तुझे बड़ी कठिनता से समाप्त किया जा सकता है। खट दरसन—छः भेष (योगी, जंगम, सरेवड़े, संन्यासी, बोधी, बैरागी)। संसे—सहम में। अरु—तथा। सिध—सिद्ध, परिपक्व योगी, जो योग के साधनों में परिपक्व हो चुके हैं।

अर्थ : हे कबीर ! (कह—) हे द्वैत ! सारी सृष्टि में ही (तुम बहुत बली हो), तुझे बड़ी कठिनता से ही नष्ट किया जा सकता है। (हज करने तथा कुर्बानी देने वाले मुल्ला, या ठाकुर-पूजा करने वाले ब्राह्मण तो कहीं रहे) छः भेषों के त्यागी तथा (योग के साधनों में परिपक्व हुये) चौरासी सिद्ध भी, हे द्वैत ! तुझसे सहमे हुये हैं।२०२।

कबीर मेरा मुझ महि किछु नही, जो किछु है सो तेरा ॥
तेरा तुझ कउ सउपते, किआ लागै मेरा ॥२०३॥

पद अर्थ : किआ लागै मेरा—मेरा कुछ भी ख़र्च नहीं होता।

अर्थ : हे कबीर ! (इस 'दुइ' को मिटाने के लिये न हज, न कुर्बानियाँ, न ठाकुर पूजा, न ब्राह्मण की सेवा, न त्याग तथा न योग-साधन—ये कुछ भी सहायता नहीं करते। सिर्फ़ एक ही तरीका है कि अपना आप ही प्रभु के हवाले किया जाये, इसी का नाम 'दिल साबति' है। सो प्रभु के दर पर अरदास कर, कह—) हे प्रभु ! जो कुछ मेरे पास है (यह तन, मन, धन) इसमें कोई चीज़ ऐसी नहीं जिसको मैं अपनी कह सकूँ, जो कुछ मेरे पास है, सब तेरा ही दिया हुआ है। (यदि तेरी कृपा हो, तो) तेरा दिया हुआ (यह तन, मन, धन) मैं तुझे भेंट करता हूँ, इसमें मेरा कुछ भी ख़र्च नहीं होता।२०३।

कबीर तूं तूं करता तू हूआ, मुझ महि रहा ना हूं ॥
जब आपा पर का मिटि गइआ, जत देखउ तत तू ॥२०४॥

पद अर्थ : तूं तूं करता—तू तू कहता, (हे प्रभु !) तेरा जाप करते हुये, हर समय तेरा सिमरन करते हुये। तू हूआ—मैं तेरा ही रूप हो गया हूँ, मैं तेरे में ही लीन हो गया हूँ। हूं—(यह ख़याल कि) मैं हूँ, मैं मैं का स्वभाव, अपनी प्रशंसा की चाह। आपा पर का—अपने पराये वाला भेदभाव। जत—जिधर। देखउ—मैं देखता हूँ। तत—उधर। तू—(हे प्रभु !) तू ही (दिख रहा है)।

अर्थ : हे कबीर ! (प्रभु के दर पर इस तरह कह—हे प्रभु ! तेरी कृपा से) हर समय तेरा नाम सिमरन करने से मैं तेरे में ही लीन हो गया

हूँ, मेरे अन्दर मैं मैं का ख़याल रह ही नहीं गया। (तेरा सिमरन करते हुये अब) जब (मेरे अन्दर से) अपने पराये वाला भेद भाव मिट गया है ('दुइ' मिट गई है), मैं जिधर देखता हूँ, मुझे (हर जगह) तू ही दिख रहा है।२०४।

नोट : श्लोक अंक २०३ तथा २०४ दोनों एक साथ पढ़ने हैं।

कबीर बिकारह चितवते, झूठे करते आस ॥
मनोरथु कोइ न पूरिओ, चाले ऊठि निरास ॥२०५॥

पद अर्थ : बिकार—वि+कार, बुरे कार्य। बिकारह चितवते—बुरे कार्य करने के बारे में सोचते हुये। झूठे आस करते—उन पदार्थों की आशायें लगाते जो नाशवान् हैं। मनोरथु—मनो+रथु, मन की दौड़-भाग, मन की वह आशा जिसके कारण दौड़-भाग करते रहे। निरास—निर+आस, आशा पूरी हुये बिना ही, दिल की आशायें साथ ही लेकर।

अर्थ : हे कबीर ! (जो मनुष्य 'दुइ' में फंसे रहकर प्रभु का सिमरन नहीं करते) जो सदा बुरे कार्य करने की ही बातें सोचते रहते हैं, जो सदा इन नाशवान् पदार्थों की ही आशायें लगाये रहते हैं, वे मनुष्य दिल की आशायें साथ लेकर ही (यहाँ से) चल पड़ते हैं। उनका कोई मनोरथ पूरा नहीं होता (अर्थात, किसी भी पदार्थ के मिलने पर उनके मन की दौड़-भाग समाप्त नहीं होती, आशायें और बढ़ती जाती हैं)।२०५।

कबीर हरि का सिमरनु जो करै, सो सुखीआ संसारि ॥
इत उत कतहि न डोलई, जिसु राखै सिरजनहार ॥२०६॥

पद अर्थ : संसारि—संसार में। इत—यहाँ, इस मौजूदा जन्म में। उत—वहाँ, इस जन्म के बाद, परलोक में। कतहि—कहीं भी। राखै—रक्षा करता है, (विकारों तथा आशाओं से) बचाता है।

अर्थ : हे कबीर ! जो मनुष्य परमात्मा की याद हृदय में बसाता है, वह इस जगत् में सुखी जीवन व्यतीत करता है; वह मनुष्य इस लोक तथा परलोक में कहीं भी (इन विकारों तथा आशाओं के कारण) भटकता नहीं है, क्योंकि परमात्मा स्वयं उसको इनसे बचाता है।२०६।

कबीर घाणी पीड़ते, सतिगुर लीए छडाइ ।।
परा पूरबली भावनी, परगटु होई आइ ।।२०७।।

पद अर्थ : घाणी पीड़ते—(विकारों तथा आशाओं की) घाणी में दबाये जाते हुये (अतिकष्ट में) (जैसे तिलों को कोल्हू में पीडा जाता है)। परा पूरबली—पहले जन्मों के समय की। भावनी—श्रद्धा, प्यार।

अर्थ : हे कबीर ! (दुनियाँ के जीव विकारों तथा दुनियावी आशाओं की) घाणी में (इस प्रकार) दबाये जा रहे हैं (जैसे कोल्हू में तिल पीडे जाते हैं, लेकिन जो जो "हरि का सिमरनु करै") उनको सतिगुरु (इस वाणी में से) बचा लेता है। (प्रभु-चरणों से उनका) प्यार जो पूर्व जन्म से चला आ रहा था, (लेकिन जो इन विकारों तथा आशाओं के नीचे दब गया था, वह सिमरन की बरकत तथा सतिगुरु की कृपा से) फिर हृदय में चमक पड़ता है।२०७।

कबीर टालै टोलै दिनु गइआ, बिआजु बढंतउ जाइ ।।
ना हरि भजिओ न खतु फटिओ, कालु पहूंचो आइ ।।२०८।।

पद अर्थ : टालै टोलै—टाल-मटोल में, आज-कल करते हुये (क्योंकि विकारों तथा आशाओं की तरफ़ लगी रुचि सिमरन की तरफ़ नहीं लगने देती)। दिनु—उम्र का प्रत्येक दिन। बिआजु—ब्याज (साहूकार अपनी राशि-पूँजी जैसे जैसे ब्याज पर देता है तैसे तैसे ब्याज बढ़ने के कारण वह रकम बढ़ती जाती है, इसी तरह मनुष्य के अन्दर विकारों तथा आशाओं की इकट्ठा हुई राशि-पूँजी अन्य अन्य विकारों तथा आशाओं की ओर प्रेरित करती है, इस तरह ये विकार मनुष्य के हृदय में बढ़ते जाते हैं)। खतु—लेखा, (विकारों तथा आशाओं के) संस्कार (जो मन में टिके रहते हैं)।

अर्थ : हे कबीर ! (जो मनुष्य गुरु की शरण में नहीं आते, उनके किये विकारों तथा बनाई आशाओं के कारण सिमरन की तरफ़ से) आज-कल करते हुये उनकी उम्र का समय बीतता जाता है, (विकारों तथा आशाओं का) ब्याज बढ़ता जाता है। न वे परमात्मा का सिमरन करते

हैं, न ही उनका (विकारों तथा आशाओं का यह) लेखा समाप्त होता है। (बस, इन विकारों तथा आशाओं में फंसे हुयों के सिर पर) मौत आ पहुँचती है।२०८।

महला ५ ॥

कबीर कूकरु भउकना, करंग पिछै उठि धाइ ॥
करमी सतिगुरु पाइआ, जिनि हउ लीआ छडाइ ॥२०९॥

नोट : यह श्लोक अंक २०९ तथा इससे अगले दो अन्य श्लोक अंक २१० तथा २११ गुरु अर्जुन देव जी के हैं, क्योंकि इन तीनों ही श्लोकों का शीर्षक "म: ५" है।

श्लोक अंक २०७ में कबीर जी ने कहा था कि जिनको सतिगुरु मिल पड़ता है, उनको वह विकारों तथा आशाओं के चक्कर में से निकाल लेता है। श्लोक अंक २०८ में कहते हैं कि जिनको गुरु नहीं मिलता, वे प्रभु का सिमरन नहीं कर सकते तथा न ही विकारों तथा आशाओं से उन्हें मुक्ति मिलती है। कबीर जी के इसी ख़याल को गुरु अर्जुन साहिब और खोलकर बयान करते हैं कि गुरु के बिना यह जीव टाल-मटोल करने पर मजबूर है, क्योंकि इसका स्वभाव कुत्ते जैसा है, इसकी आदत है कि हमेशा मुर्दे के पीछे दौड़ता फिरे। जिस पर प्रभु की अपनी कृपा हो जाये, उसको सतिगुरु मिलता है, वही इन विकारों तथा आशाओं से बचता है।

पद अर्थ : कूकरु—कुत्ता। भउकना—भौंकने वाला। करंग—मुर्दा। करमी—प्रभु की कृपा से। जिनि—जिस गुरु ने। हउ—मुझे।

अर्थ : हे कबीर ! भौंकने वाला (अर्थात, लालच का मारा) कुत्ता सदा माँस (मुर्दार) की ओर दौड़ता है (इसी तरह विकारों तथा आशाओं में फंसा मनुष्य सदा विकारों तथा आशाओं की तरफ़ ही दौड़ता है, इसलिये यह सिमरन की तरफ़ से टाल-मटोल करता है)। मुझे परमात्मा की कृपा से सतिगुरु मिल गया है। उसने मुझे (इन विकारों तथा आशाओं के पंजे से) छुड़ा लिया है।२०९।

महला ५ ॥

कबीर धरती साध की, तसकर बैसहि गाहि ॥
धरती भारि न बिआपई, उन कउ लाहू लाहि ॥२१०॥

नोट : श्लोक अंक २०९ में आए ख़यालों को जारी रखा गया है। विकारी मनुष्यों का ज़ोर गुरु तथा गुरु-संगति पर नहीं चल सकता, क्योंकि गुरु महान्, ऊँचा है। लेकिन हाँ, सतिगुरु तथा उसकी संगति की बरकत से विकारियों को अवश्य लाभ पहुँचता है।

पद अर्थ : धरती साध की—सतिगुरु की धरती, सतिगुरु की संगति। तसकर—चोर, विकारी मनुष्य। बैसहि—आ बैठते हैं, यदि आ बैठें। गाहि—पकड़कर, अन्य ख़याल छोड़कर (*नोट :* कई टीकाकार इस शब्द 'गाहि' का अर्थ 'कभी' करते हैं तथा इसको फ़ारसी का शब्द समझते हैं। लेकिन यह ग़लत है। इस श्लोक के प्रत्येक शब्द को ध्यान से पढ़ें, प्रत्येक शब्द संस्कृत-हिन्दी का है। मुसलमानी मत का भी यहाँ कोई ज़िकर नहीं है। इसलिये बाकी शब्दों जैसे यह भी संस्कृत के समीप है)। भारि—भार से, भार के नीचे, तस्करों के भार के नीचे। न बिआपई—दबती नहीं, कोई कठिनाई नहीं समझती, प्रभावित नहीं होती। उन कउ—तस्करों को। लाहू—लाभ ही (मिलता है)। लाहि—लहहि, वे तस्कर लाभ ही लेते हैं, वे विकारी लाभ ही उठाते हैं।

अर्थ : हे कबीर ! यदि विकारी मनुष्य (अच्छे भाग्य से) अन्य सहारे छोड़कर सतिगुरु की संगति में आ बैठें, तो विकारियों का प्रभाव उस संगति पर नहीं पड़ता। हाँ, विकारी लोगों को अवश्य लाभ पहुँचता है, वे विकारी लोग अवश्य लाभ उठाते हैं।२१०।

महला ५॥

कबीर चावल कारने, तुख कउ मुहली लाइ ॥
संगि कुसंगी बैसते, तब पूछै धरमराइ ॥२११॥

नोट : श्लोक अंक २१० में 'साध की धरती' तथा 'तसकर' की मिसाल देकर कबीर जी ने कहा है कि 'तस्करों' का असर 'धरती' पर

नहीं पड़ सकता। क्यों ? इसलिये कि 'धरती' का भार तस्करों के भार से बहुत अधिक है। 'साध की धरती' भारी है, बल वाली है, इसलिये 'तसकर' ज़ोर नहीं डाल सकते। यदि भलाई वाला छोर मज़बूत हो तो वहाँ विकारी मनुष्य भी आकर भलाई की तरफ़ लग जाते हैं।

अंक २११ में 'चावल' तथा 'तुख' की उदाहरण है। वज़न में 'चावल' भारी है, 'तुख' हल्का है। 'तुख' (चावल का छिलका) कमज़ोर होने के कारण मार खाता है, इसी तरह विकारियों के बलशाली समूह में यदि कोई साधारण-सा मनुष्य (चाहे वह भला ही हो, लेकिन उनके मुकाबले पर कमज़ोर दिल हो) बैठना शुरू कर दे तो वह भी उसी स्वभाव का बनकर विकारों से मार खाता है।

पद अर्थ : तुख—चावल का छिलका। लाइ—लगती है, बजती है।

अर्थ : हे कबीर ! (छिलकों से) चावल (अलग करने) के लिये 'तुख' को मोहली (की चोट) बजती है। इसी तरह जो मनुष्य विकारियों की संगति में बैठता है (वह भी विकारों की मार खाता है, विकार करने लग जाता है) उससे धर्मराज लेखा मांगता है।२११।

नामा माइआ मोहिआ, कहै तिलोचनु मीत ॥
काहे छीपहु छाइलै, राम न लावहु चीतु ॥२१२॥

नामा कहै तिलोचना, मुख ते रामु संम्हालि ॥
हाथ पाउ करि कामु सभु, चीतु निरंजन नालि ॥२१३॥

नोट : महला ५ के श्लोक अंक २०९, २१० तथा २११, सिर्फ़ तीन थे। अब फिर कबीर जी के उच्चारण किये हुये श्लोक हैं। क्योंकि इनका शीर्षक "महला ५" नहीं है।

इन श्लोकों में कबीर जी भक्त नामदेव जी तथा भक्त त्रिलोचन जी का ज़िकर करते हैं। इस बात से यह साबित हुआ कि ये दोनों भक्त कबीर जी से पहले हुये हैं। नामदेव जी बम्बई प्रांत के ज़िला सतारा के रहने वाले थे, फिर भी ये इतने प्रसिद्ध हो चुके थे कि बनारस के निवासी कबीर जी इनको जानते थे।

कबीर जी, इन श्लोकों में नामदेव तथा त्रिलोचन जी की आपस में हुई बात-चीत का ज़िकर करते हैं। यह सारा ख़याल वही है जो नामदेव जी ने स्वयं रामकली राग के एक शब्द में दिया है। साथियों से गप्पें मारते हुये एक लड़के का काग़ज़ की पतंग उड़ाना, मिलकर बातें करते हुये लड़कियों का कुएं से पानी भरकर लाना, गायों का बछुड़ों से जुदा होकर बाहर घास खाने जाना, माँ का अपने छोटे बच्चे को पालने में सुलाकर घर के काम-काज में लगना, ये सारे कार्य होते हुयें भी लड़के का ध्यान पतंग में, लड़कियों का ध्यान अपने अपने घड़े में, प्रत्येक गाय का ध्यान अपने बछुड़े में तथा माँ का ध्यान अपने बच्चे में होता है। नामदेव जी के उस शब्द का संक्षेप भाव कबीर जी इन दो श्लोकों में दे रहे हैं। इससे यह साफ़ नतीजा निकलता है कि कबीर जी के पास नामदेव जी का वह सारा शब्द मौजूद था। कोई अजीब बात नहीं कि नामदेव जी की सारी वाणी कबीर जी के पास हो, क्योंकि दोनों हम-ख़याल थे तथा दोनों ही ब्राह्मण के धार्मिक दबाव को तोड़ने की कोशिश कर रहे थे।

पद अर्थ : छीपहु—छींबना। छाइलै—रजाईयों के कपड़े।२१२।

पाउ—पैर। कामु सभु—(घर का) सारा काम-धंधा। निरंजन—अंजन रहित, जिस पर माया की कालिख असर नहीं कर सकती।२१३।

नोट : इन दोनों श्लोकों को इस लड़ी के मज़मून में समझने के लिये कबीर जी के श्लोक अंक २०८ के साथ मिलाकर पढ़ें, क्योंकि बीच के तीन श्लोक गुरु अर्जुन साहिब के हैं। विकारों तथा आशाओं का 'खतु' फाड़ने के लिये 'हरि भजन' करना है लेकिन इसका भाव यह नहीं कि दुनियाँ की 'किरत-कार' छोड़ देनी है।

अर्थ : त्रिलोचन कहता है—हे मित्र नामदेव ! तू तो माया में फंसा प्रतीत होता है। ये कपड़े क्यों छींब (ठेक) रहा है ? परमात्मा के (चरणों के) साथ चित्त क्यों नहीं जोड़ता ?।२१२।

नामदेव जी (आगे से) उत्तर देते हैं—हे त्रिलोचन ! मुँह से परमात्मा का नाम ले, हाथों-पैरों से सारा काम-काज कर तथा अपना चित्त माया रहित परमात्मा के साथ जोड़।२१३।

महला ५ ॥

कबीरा हमरा को नही, हम किस हू के नाहि ॥
जिनि इहु रचनु रचाइआ, तिस ही माहि समाहि ॥२१४॥

नोट : यह श्लोक भी सतिगुरु अर्जुन साहिब जी का है, जैसे कि इसके शीर्षक "महला ५" से साफ़ प्रकट है। कबीर जी के श्लोक अंक २१३ की व्याख्या के लिये है। जो उत्तर नामदेव जी ने त्रिलोचन जी को दिया था, उसका हवाला देकर कबीर जी कहते हैं कि दुनियाँ की किरत-कार नहीं छोड़नी, यह करते हुये ही हमने अपना चित्त इससे अलग रखना है।

इस श्लोक अंक २१४ में गुरु अर्जुन साहिब ने यह बताया है कि सगे-संबंधियों में रहते हुये तथा माया में व्यवहार करते हुये हर समय यह याद रखना है कि यह सब कुछ यहाँ सिर्फ़ चार दिन के साथी हैं, असल साथी परमात्मा का नाम है तथा किरत-कार करते हुये परमात्मा को सदा याद रखना है।

अर्थ : हे कबीर ! जिस परमात्मा ने यह रचना रची है, हम तो उसी की याद में टिके रहते हैं, क्योंकि न तो कोई हमारा ही सदा का साथी है तथा न ही हम किसी के सदा के लिये साथी बन सकते हैं।२१४।

कबीर कीचड़ि आटा गिरि परिआ, किछू न आइओ हाथ ॥
पीसत पीसत चाबिआ, सोई निबहिआ साथ ॥२१५॥

अर्थ : हे कबीर ! (कोई स्त्री यदि किसी के घर से आटा पीसकर लाई, अपने घर आते हुये रास्ते में वह) आटा कीचड़ में गिर पड़ा, उस (बेचारी) के हाथ में कुछ भी न पड़ा। चक्की पीसते पीसते जितने दाने उसने चबा लिये, बस ! वही उसके काम आया।२१५।

नोट : परमात्मा का सिमरन करने के लिये दिन के किसी विशेष समय को तथा उम्र के किसी ख़ास हिस्से की इंतज़ार नहीं करते रहना, स्वभाव ऐसा बनायें कि हर समय प्रत्येक कार्य में परमात्मा याद रहे। यदि सारा दिन काम-धंधों में परमात्मा को भुलाकर चोर-बाज़ारी, ठगी-फ़रेबी करते रहे तथा सुबह के समय मंदिर गुरुद्वारों में राम राम कर आये, या

इस कमाई में से कुछ दान-पुण्य कर दिया, तो यह उद्यम इस तरह ही जानो जैसे घंटा दो घंटे लगाकर पीसा हुआ आटा रास्ते में आते समय कीचड़ में गिर जाये।

कबीर मनु जानै सभ बात, जानत ही अउगनु करै ।।
काहे की कुसलात, हाथ दीपु कूए परै ।।२१६।।

नोट : किसी ख़ास नियत समय पूजा-पाठ करके सारा दिन ठगी धोखे का व्यापार करना ऐसे ही है जैसे चक्की पीस-पीसकर इकट्ठा किया हुआ आटा कीचड़ में गिर जाये, या जैसे रात में जलता हुआ दीपक हाथ में पकड़ा हुआ हो, दीपक का प्रकाश होते हुये भी मनुष्य किसी कुएं में गिर पड़े। सिमरन-भजन के साथ हक्क की किरत-कमाई अत्यन्त ज़रूरी है।

पद अर्थ : कुसलात—सुख, कुशल। हाथ दीपु—हाथों में दीपक (हो)। कूए—कुएं में।

अर्थ : हे कबीर ! (जो मनुष्य रोज़ाना धर्म-स्थान पर जाकर भजन भक्ति करने के बाद सारा दिन ठगी-फ़रेब की कमाई करता है, वह इस बात से नावाकिफ़ नहीं कि यह बुरी बात है, उसका) मन सब कुछ जानता है लेकिन वह जानता हुआ भी (ठगी की कमाई वाला) पाप किये जाता है। (परमात्मा की भक्ति तो जलता हुआ दीपक है, जिसने ज़िन्दगी के अन्धेरे सफ़र में मनुष्य को रास्ता दिखाना है, विकारों के कुएं में गिरने से बचाना है, लेकिन) उस दीपक से क्या सुख यदि उस दीपक का हमारे हाथ में होते हुये भी हम कुएं में गिर पड़ें ?।२१६।

कबीर लागी प्रीति सुजान सिउ, बरजै लोगु अजानु ।।
ता सिउ टूटी किउ बनै, जा के जीअ परान ।।२१७।।

पद अर्थ : सुजान—सयाना, घट घट की जानने वाला। लागी—लगी हुई। अजानु—मूर्ख, बेसमझ। ता सिउ—उस सुजान प्रभु से। किउ बनै—कैसे सुन्दर लगे ? कैसे जचे ? नहीं जचती, सुन्दर नहीं लगती। जीअ—प्राण। बरजै—रोकता है, रोक पाता है।

अर्थ : हे कबीर ! (यदि तूने "चीतु निरंजन नालि" जोड़कर रखना है तो यह याद रख कि यह) मूर्ख जगत् (अर्थात, सगे-संबंधियों का मोह तथा ठगी की किरत-कार) घट घट की जानने वाले परमात्मा के साथ बनी प्रीति के रास्ते में रुकावट पाता है, (तथा इस धोखे में आने से घाटा ही घाटा है, क्योंकि) जिस परमात्मा की दी हुई यह जिंद-जान है, उससे बिछुड़ी हुई (किसी हालत में भी) ये सुन्दर नहीं लग सकती (आराम से नहीं रह सकती)।२१७।

तब तो :

कबीर कोठे मंडप हेतु करि, काहे मरहु सवारि ।।
कारजु साढे तीनि हथ, घनी त पउने चारि ।।२१८।।

पद अर्थ : मंडप—शमियाने, महल-माड़ियाँ। हेतु करि—हित करके, शौक से। सवारि—सजा-सजाकर। काहे मरहु—क्यों आत्मिक मौत मर रहे हो ? कारजु—काम, मतलब, आवश्यकता। घनी—अधिक। त—तो।

अर्थ : (प्राण-दाता प्रभु से बिछुड़ी हुई जान आराम से नहीं रह सकती, "ता सिउ टूटी किउ बनै" तो) हे कबीर ! (उस प्राण-दाता को भुलाकर) घर महल-माड़ियाँ बड़े शौक से सजा-सजाकर क्यों आत्मिक मौत मर रहे हो ? तुम्हारी अपनी आवश्यकता तो साढ़े तीन हाथ ज़मीन से पूरी हो रही है (क्योंकि हर रोज़ सोते समय अपने कद के अनुसार आप इतनी का ही प्रयोग करते हो) लेकिन यदि (तुम्हारा कद कुछ लंबा है, यदि) तुम्हें कुछ अधिक ज़मीन की आवश्यकता पड़ती है तो पौने-चार हाथ प्रयोग कर लेते होगे।२१८।

नोट : रोज़ाना जीवन के धर्म को ज़बरदस्ती किसी आगे आने वाले समय का धर्म बनाये जाने से मौजूदा जीवन में धर्म का प्रभाव कम होता जाता है। कबीर जी हिन्दु थे। मरने पर हिन्दु की लाश जलाई जाती है, जो दो तीन घंटों में ही जलकर राख हो जाती है। साढ़े तीन हाथ तो क्या, श्मशान में उसके लिये चार उँगली जगह भी नहीं रह जाती। इसलिये कबीर जी मरने के बाद की बातें नहीं बता रहे, लेकिन हमारे टीकाकारों ने साढ़े तीन हाथ ज़मीन का संबंध मनुष्य के मरने से ही जोड़ा है, जो ग़लत है।

कबीर जो मै चितवउ ना करै, किआ मेरे चितवे होइ ॥
अपना चितविआ हरि करै, जो मेरे चिति न होइ ॥२१९॥

अर्थ : हे कबीर ! ("चीतु निरंजन नालि" रखने की जगह तू सारा दिन माया की ही बात सोचता रहता है, लेकिन तेरे) मेरे सोच सोचने से कुछ नहीं बनता, परमात्मा वह कुछ नहीं करता जो मैं सोचता हूँ (अर्थात, जो हम सोचते रहते हैं)। प्रभु वह कुछ करता है जो वह स्वयं सोचता है तथा जो कुछ वह परमात्मा सोचता है वह हमारे ख़याल में भी नहीं होता।२१९।

मः ३ ॥

चिंता भि आपि कराइसी, अचिंतु भि आपे देइ ॥
नानक सो सालाहीऐ, जि सभना सार करेइ ॥२२०॥

नोट : इस श्लोक का शीर्षक है, "मः ३", यह गुरु अमरदास जी का उच्चारण किया हुआ है। उपर्युक्त श्लोक के साथ मिलाकर पढ़ें, स्पष्ट पता लगता है कि गुरु अमरदास जी ने कबीर जी के श्लोक अंक २१९ के संबंध में इस श्लोक का उच्चारण किया है। इसलिए कबीर जी के श्लोक गुरु अमरदास जी के पास मौजूद थे। यह साखी ग़लत है कि भक्तों की वाणी गुरु अर्जुन देव जी ने एकत्र की थी।

अर्थ : हे कबीर ! (जीवों के क्या वश ?) प्रभु आप ही जीवों के मन में दुनियाँ के चिन्ता-फ़िक्र पैदा करता है, वह अवस्था भी प्रभु स्वयं आप ही देता है जब मनुष्य इन चिन्ता-फ़िक्र से रहित हो जाता है। हे नानक ! जो प्रभु सब जीवों की संभाल करता है, उसी के गुण गाने चाहिए (अर्थात, प्रभु के आगे ही अरदास करके दुनियाँ के फ़िक्र, चिन्ताओं से बचे रहने की दाति मांगो)।२२०।

मः ५ ॥

कबीर रामु न चेतिओ, फिरिआ लालच माहि ॥
पाप करंता मरि गइआ, अउध पुंनी खिन माहि ॥२२१॥

नोट : यह श्लोक गुरु अर्जुन साहिब का है। इसका संबंध भी कबीर जी के श्लोक अंक २१९ के साथ है।

पद अर्थ : मरि गइआ—आत्मिक मौत मर जाता है, जीवन में गुणों का अभाव ही हो जाता है। अउध—आयु। पुंनी—समाप्त हो जाती है। खिन माहि—आँख के फेर में, क्षण भर में, अचानक ही, अभी विकारों में चित्त तृप्त ही नहीं हुआ कि अचानक।

अर्थ : हे कबीर ! यदि मनुष्य परमात्मा का सिमरन नहीं करता (सिमरन न करने का ही यह नतीजा निकलता है कि वह दुनियाँ की विचार करता रहता है तथा दुनियाँ के) लालच में भटकता फिरता है। पाप करते करते वह (भाग्यहीन) आत्मिक मौत मर जाता है (उसके अन्दर से ऊँचा आत्मिक जीवन समाप्त हो जाता है तथा वह विकारों में तृप्त भी नहीं होता कि) अचानक आयु समाप्त हो जाती है।२२१।

कबीर काइआ काची कारवी, केवल काची धातु ॥
साबतु रखहि त राम भजु, नाहि त बिनठी बात ॥२२२॥

नोट : पीतल, कांसे आदि के बर्तन में कोई भी वस्तु डालकर रखें तो उस वस्तु का प्रभाव बर्तन के पीतल, कांसे आदि में नहीं जा सकता। लेकिन यदि कच्ची मिट्टी का बर्तन हो तो उसमें रखी चीज़ की सुगन्ध दुर्गन्ध मिट्टी में अपना असर डाल देती है।

मानव शरीर एक ऐसा बर्तन है, जिसकी ज्ञानेन्द्रियाँ, मानो, कच्ची मिट्टी की बनी हुई हैं, जिस कर्म-विकर्म से इनका संबंध बनता है उसका प्रभाव ये ग्रहण कर लेती हैं, तभी तो शरीर के अन्दर बसती आत्मा का (जो परमात्मा की अपनी अंश है) ये (ज्ञानेन्द्रियाँ) परमात्मा से अन्तर डलवा देती हैं। इन इन्द्रियों को, इस शरीर को, 'साबतु' (पवित्र) रखने का तरीका यही हो सकता है कि 'अपवित्र' करने वाले कर्म तथा पदार्थ इसके समीप न आने दिये जायें तथा आत्मा को इसके अपने मूल परमात्मा के अत्यन्त समीप रखा जाये।

पद अर्थ : कारवी—करवा, छोटा-सा लोटा। केवल—केवल। धातु—मूल, असला। साबतु—(देखें श्लोक अंक १८५—"जा की दिल साबति नही"।

'साबति' का अर्थ है, पवित्रता, पाकीज़गी) पवित्र। रखहि—यदि तू रखना चाहे। भजु—भज, सिमर। बिनठी—बिगड़ी, नष्ट हुई। बात—बात।

अर्थ : हे कबीर! यह शरीर कच्चा लोटा (समझ लो), इसका असला शुद्ध कच्ची मिट्टी (जान लो)। यदि तुम इसको, (बाहरी बुरे प्रभावों से) पवित्र रखना चाहते हो तो परमात्मा का नाम सिमरो, नहीं तो (मानव-जन्म का यह) खेल बिगड़ा ही समझो (अर्थात, आवश्य बिगड़ जाएगा) ।२२२।

कबीर केसो केसो कूकीऐ, न सोईऐ असार ॥
राति दिवस के कूकने, कबहू के सुनै पुकार ॥२२३॥

पद अर्थ : केसो—केशव [केशाः प्रशस्ताः सन्ति अस्य, लंबे केशों वाला], परमात्मा। असार—ग़ाफ़िल रहकर। कबहू के—कभी तो।

अर्थ : हे कबीर! (यदि इस शरीर को विकारों की तरफ़ से "साबतु रखहि त") हर समय परमात्मा का नाम याद करते रहो, किसी समय भी विकारों से बेपरवाह न हो। यदि दिन-रात (हर समय) परमात्मा का सिमरन करते रहो तो किसी न किसी समय वह प्रभु जीव की अरदास सुन ही लेता है (तथा इसको आत्मिक मौत मरने से बचा लेता है) ।२२३।

कबीर काइआ कजली बनु भइआ, मनु कुंचरु मय मंतु ॥
अंकसु ग्यानु रतनु है, खेवटु बिरला संतु ॥२२४॥

पद अर्थ : काइआ—शरीर। कजली बनु—ऋषिकेश, हरिद्वार के निकट के एक जंगल का नाम है, जहाँ हाथी रहते हैं, घना जंगल (*नोट :* जब मनुष्य परमात्मा की याद भुला बैठता है तो इसकी सारी ज्ञानेन्द्रियाँ विकारों की ओर चल पड़ती हैं, कामादि अनेक विकार प्रकट हो जाते हैं। ऐसे शरीर को एक जंगल समझ लो, जिसमें अनेक विकार मानो घने वृक्ष हैं)। भइआ—(यदि 'केसो केसो' न पुकारें तो यह शरीर विकार-वृक्षों से भरा हुआ एक जंगल) बन जाता है। कुंचरु—हाथी। मय मंतु—मदमस्त, अपने मद में मस्त हुआ। अंकसु—लोहे का वह कुण्डा

जिससे हाथी को चलाते हैं। रतनु—रत्न जैसा श्रेष्ठ। खेवटु—चलाने वाला।

अर्थ : हे कबीर ! (यदि 'केसो केसो' न पुकारें, यदि परमात्मा का सिमरन न करें तो अनेक विकार पैदा हो जाने से) यह मानव-शरीर मानो 'कजली बनु' बन जाता है, जिसमें मन-हाथी अपने मद में मस्त हुआ फिरता है। इस हाथी को वश में रखने के लिये गुरु का श्रेष्ठ ज्ञान ही अंकुश बन सकता है, कोई भाग्यशाली गुरमुख (इस ज्ञान-अंकुश का प्रयोग कर मन-हाथी को) चलाने योग्य होता है।२२४।

कबीर राम रतनु मुखु कोथरी, पारख आगै खोलि ॥
कोई आइ मिलैगो गाहकी, लेगो महगे मोलि ॥२२५॥

पद अर्थ : कोथरी—थैली, बटूआ। पारख—परख करने वाला, पारखू। गाहकी—नाम रत्न को ख़रीदने वाला। महगे मोलि—महँगे मूल्य पर (*नोट :* इस काया-जंगल में मन, मस्त हाथी की तरह आज़ाद फिरता है। क्या पशु-पक्षी और क्या मनुष्य, अपनी आज़ादी अपने हाथ से दे देना प्रत्येक के लिये सबसे बड़ी कुर्बानी है। मन की इस स्वतंत्रता के बदले कोई वस्तु मोल लेनी महँगी से महँगी कीमत देनी है), मन अर्पण करके।

अर्थ : हे कबीर ! परमात्मा का नाम (दुनियाँ में) सबसे कीमती पदार्थ है, (इस पदार्थ को संभालकर रखने के लिये) अपने मुँह को थैली बना, तथा इस रत्न की कीमत तथा महत्त्व को जानने वाले किसी गुरमुख के आगे ही मुँह खोलना (अर्थात, सतसंग में प्रभु के नाम का गुण-कीर्तन कर)। जब नाम-रत्न के महत्त्व को जानने वाला कोई ग्राहक सतसंग में आ पहुँचता है तो वह अपना मन गुरु को अर्पण करके नाम-रत्न को ख़रीदता है।२२५।

कबीर राम नामु जानिओ नही, पालिओ कटकु कुटंबु ॥
धंधे ही महि मरि गइओ, बाहरि भई न बंब ॥२२६॥

पद अर्थ : जानिओ नही—(जिस मनुष्य ने) कदर नहीं जानी। पालिओ—पालता रहा। कटकु कुटंबु—फ़ौज (बहुत सारा परिवार)। मरि

गइओ—आत्मिक मौत मर गया। बाहरि—धंधों से बाहर, (अर्थात) धंधों से ख़ाली होकर। बंब—आवाज़, ख़बर। बाहरि भई न बंब—धंधों से निकलकर उसके मुँह से राम नाम की आवाज़ भी नहीं निकली।

अर्थ : (लेकिन) हे कबीर ! जिस मनुष्य को परमात्मा के नाम-रत्न की कदर-कीमत नहीं पड़ती, वह (नाम-रत्न को भूलकर सारी उम्र) बड़े परिवार को ही पालता रहता है, दुनियाँ के धंधों में ही खप-खपकर वह मनुष्य आत्मिक मौत मर जाता है, इन परेशानियों में से निकलकर भी उसके मुँह से राम नाम की आवाज़ नहीं निकलती (न ही इन परेशानियों में से कभी वह सत्य निकाल पाता है तथा न ही वह कभी परमात्मा का नाम लेता है) ।२२६।

कबीर आखी केरे माटुके, पलु पलु गई बिहाइ ।।
मनु जंजालु न छोडई, जम दीआ दमामा आइ ।।२२७।।

पद अर्थ : केरे—के। माटुके—झपकने। आखी केरे माटुके—आँखों के झपकने जितना समय। गई बिहाइ—(आयु) बीत जाती है। दमामा—नगाड़ा। आइ दीआ—आकर बजा देता है।

अर्थ : हे कबीर ! (उस बदनसीब का हाल देख, जो प्रभु-नाम की कदर-कीमत न जानता हुआ सारी उम्र कुटुंब पालने में ही गुज़ारता है तथा कभी भी मुख से प्रभु का नाम नहीं जपता। (थोड़ी थोड़ी करके) उसकी उम्र आँखों के झपकने जितने समय में तथा पल पल करके बीत जाती है, फिर भी उसका मन (कुटुंब का) जंजाल नहीं छोड़ता, आख़िर यम आकर मौत का नगाड़ा बजा देते हैं।२२७।

कबीर तरवर रूपी रामु है, फल रूपी बैरागु ।।
छाइआ रूपी साधु है, जिनि तजिआ बादु बिबादु ।।२२८।।

नोट : ऐसा प्रतीत होता है जैसे कबीर जी की आँखों के सामने अपने वतन की गर्मी की ऋतु का नक्शा आया खड़ा है। गर्मी पड़ रही है। एक मुसाफ़िर दूर से एक सुन्दर सघन छाया वाले वृक्ष को देखकर उसका आश्रय ले लेता है। इस छाया का आश्रय लेने से उसकी गर्मी भी कम

होती है तथा उसको वृक्ष से पका हुआ फल भी मिलता है, जिससे वह अपनी भूख भी दूर करता है।

विकारों की गर्मी से तप रहे इस जगत् में परमात्मा का नाम मानो एक सुन्दर वृक्ष है, गुरमुख संत-जन इस वृक्ष की ठंडी मीठी छाया हैं। जो मनुष्य गुरमुख की संगति करता है, विकारों की तपश से बचने के लिये गुरमुख की संगति का सहारा लेता है, उसके अन्दर ठंड पड़ जाती है तथा उसको वैराग्य की दाति मिलती है, जिसकी बरकत से वह माया की तरफ़ से संतुष्ट हो जाता है, लेकिन साधु गुरमुख वही है जिसने माया के जाल को त्याग दिया है।

पद अर्थ : तरवर—तर+वर—सुन्दर वृक्ष। तर—वृक्ष। बैरागु—वैराग्य, निर्मोहता। छाइआ—छाया। जिनि—जिसने, जिस साध गुरमुख ने। बादु बिबादु—वाद-विवाद, झगड़ा, माया का झमेला।

अर्थ : हे कबीर ! (विकारों की तपशं से तप रहे इस संसार में) प्रभु का नाम एक सुन्दर वृक्ष है। जिस मनुष्य ने (अपने अंदर से इन विकारों का) झगड़ा-झमेला समाप्त कर दिया है, वह गुरमुख इस वृक्ष की मानो छाया है (जो भाग्यशाली मनुष्य उस तपश से बचने के लिए इस छाया का आश्रय लेता है उसको) वैराग्य-रूप फल (प्राप्त होता) है।२२८।

कबीर ऐसा बीजु बोइ, बारह मास फलंत ॥
सीतल छाइआ गहिर फल, पंखी केल करंत ॥२२९॥

पद अर्थ : बारह मास—बारह ही महीने, सदैव। फलंत—फल देता है। सीतल—शीतल, ठंडी, ठंड देने वाली, शान्ति-दायक। छाइआ—छाया, आश्रय। गहिर—गंभीरता, अडोलता, वैराग्य। पंखी—(अर्थात, सारी) ज्ञानेन्द्रियाँ। केल—आनन्द।

अर्थ : हे कबीर ! ("जिनि तजिआ बादु बिबादु" उस 'साध' की संगति में रहकर तू भी अपने हृदय की धरती में परमात्मा के नाम का) एक ऐसा बीज बो दे, जो सदा ही फल देता रहता है; उसका आश्रय लेने से अन्दर ठंड पड़ जाती है, फल यह मिलता है कि दुनियाँ के 'बादु

बिबादु' की ओर से मन टिक जाता है तथा सारी ज्ञानेन्द्रियाँ भी (जो पहले पक्षियों की तरह स्थान स्थान पर दाने के लिये भटकती थीं, अब प्रभु के नाम का) आनंद लेती हैं।२२९।

कबीर दाता तरवरु दया फलु, उपकारी जीवंत ।।
पंखी चले दिसावरी, बिरखा सुफल फलंत ।।२३०।।

पद अर्थ : दाता—प्रभु के नाम की दाति करने वाला। दया—जीवों से प्यार। उपकारी जीवंत—जो उपकार करने में ही जीता है, जो सारा जीवन उपकार में ही गुज़ारता है। पंखी—इस जगत् वृक्ष के पक्षी, सारे जीव। दिसावरी—दिशा, अन्य दिशा को, अन्य तरफ़, अन्य धंधों में। बिरखा—नाम देने वाला वृक्ष, (साधु)। सुफल फलंत—'दया' की सुन्दर दाति ही करता रहता है, सबको यही सिखाता रहता है कि सब जीवों से प्यार करो। सुफल—सु-फल, सुन्दर फल।

अर्थ : हे कबीर ! ("जिनि तजिआ बादु बिबादु") वह 'साधु' अपनी सारी उम्र परोपकार में ही गुज़ारता है, प्रभु के नाम की दाति देने वाला वह साधु (विकारों में तपते हुये इस संसार के लिये) मानो एक सुन्दर वृक्ष है, उससे 'जीअ दइआ' की दाति प्राप्त होती है। सांसारिक जीव तो अन्य धंधों में व्यस्त रहते हैं लेकिन गुरमुख 'साध' सदा यही शिक्षा देता रहता है कि सबके साथ दया-प्यार का व्यवहार करें।२३०।

कबीर साधू संगु परापती, लिखिआ होइ लिलाट ।।
मुकति पदारथु पाईऐ, ठाक न अवघट घाट ।।२३१।।

पद अर्थ : साधू संगु—("जिनि तजिआ बादु बिबादु" उस) साधु की संगति। लिलाट—ललाट, माथा। लिखिआ होइ लिलाट—यदि मस्तक पर लेखा लिखा हो, यदि अच्छे भाग्य हों। मुकति—'बादु बिबादु' से मुक्ति। ठाक—रोक। अवघट घाट—कठिन पहाड़ी रास्ता। (*नोट :* दुनियाँ के 'बादु बिबादु' से बचकर रहने की कोशिश करना ऐसे है जैसे किसी ऊँचे पहाड़ पर चढ़ना है।)

अर्थ : हे कबीर ! ("जिनि तजिआ बादु बिबादु") उस साधु-गुरमुख की संगति उस मनुष्य को प्राप्त होती है जिसके बड़े अच्छे भाग्य हों। उसकी संगति से यह फल मिलता है कि दुनियाँ के 'बादु-बिबादु' से मुक्ति मिल जाती है, कोई भी विकार इस कठिन सफ़र के रास्ते में रुकावट नहीं पाता।२३१।

कबीर एक घड़ी आधी घरी, आधी हूं ते आध ॥
भगतन सेती गोसटे, जो कीने सो लाभ ॥२३२॥

पद अर्थ : गोसटे—गोष्ठी, बात-चीत, मिलाप [*नोट :* शब्द 'गोसटे' के दो अर्थ हैं—(१) चर्चा, बहस, बात-चीत, (२) मिलाप, संगति। जैसे "सिध गोसटि"—(१) सिद्धों के साथ बहस, (२) परमात्मा के साथ मिलाप, देखें मेरा टीका *सिध गोसटि*]। कीने—किया जाये।

अर्थ : हे कबीर ! (क्योंकि दुनियाँ के 'बादु बिबादु' से मुक्ति साधु की संगति करने से ही मिलती है, इसलिये) एक घड़ी, आधी घड़ी, घड़ी का चौथा भाग—जितना समय भी गुरमुखों की संगति की जाये, इससे (आत्मिक जीवन में) लाभ ही लाभ है।२३२।

कबीर भांग माछुली सुरापानि, जो जो प्रानी खांहि ॥
तीरथ बरत नेम कीए, ते सभै रसातल जांहि ॥२३३॥

नोट : श्लोक अंक २२८ से एक नया ख़याल चला है। जगत् में 'बादु बिबादु' की तपश पड़ रही है, जीव तड़प रहे हैं। परमात्मा का नाम यहाँ एक सुन्दर वृक्ष है। जिन (किसी) भाग्यशाली गुरमुखों ने दुनियाँ का यह "बादु बिबादु तजिआ" है वे इस वृक्ष की ठंडी छाया हैं। इस छाया का आश्रय लेने से, साधु-गुरमुखों की संगति करने से इस 'बादु बिबादु' से मुक्ति हो जाती है, इससे 'वैराग्य' प्राप्त हो जाता है।

लेकिन दुनियाँ में एक अजीब तमाशा हो रहा है। लोग प्रातःकाल धर्म-स्थान पर भी आते हैं, व्रत आदि भी रखते हैं, अन्य कई तरह के नियमों का निर्वाह भी करते हैं लेकिन इनके साथ साथ विकार भी किये जाते हैं। कबीर जी यहाँ कहते हैं कि 'साधु' की संगति करने का भाव

यह नहीं है कि जितना समय सतसंग में बैठो, उतनी देर राम राम करते रहो, वहाँ से आकर विकारों में भी हिस्सा लेते रहो। यह तीर्थ-यात्रा, व्रत-नियम सब निष्फल हो जाते हैं, यदि मनुष्य विकारी जीवन नहीं छोड़ता।

पद अर्थ : भांग—भांग। माछुली—मछली। सुरा—शराब। पान—पीना। पानि—पीने वाला (जैसे 'धन' से 'धनि'—धन वाला, 'गुण' से 'गुणि'—गुण वाला)। उपर्युक्त सारी पंक्ति का अन्वय (Proseorder) इस प्रकार है—"जो जो सुरापानि प्रानी भांग माछुली खांहि"। खांहि—खाते हैं। ते सभै—वे सारे ही (तीर्थ यात्रा, व्रत, नियम आदि)। रसातल जांहि—रसातल में जाते हैं, व्यर्थ जाते हैं, उनका थोड़ा-सा भी लाभ नहीं होता। (*नोट :* पिछले श्लोक में ज़िकर है कि "भगतन सेती गोसटे जो कीने सो लाभ"। यहाँ अंक २३३ में कहते हैं कि यदि मनुष्य "भगतन सेती गोसटे" से आकर शराब-माँस आदि में लगा रहे, तो वह किया हुआ सतसंग तथा वहाँ लिये हुये प्रण (व्रत) सब व्यर्थ जाते हैं।)

नोट : कई सज्जन शब्द 'पानि' का अर्थ पान का पत्ता करते हैं। यह ग़लत है। वाणी में जहाँ भी वह शब्द है उसका जोड़ 'पान' है, जैसे :

पान सुपारी खातीआ मुखि बीड़ीआ लाईआ ॥

शब्द 'भांग, माछुली और सुरा' से भाव यह नहीं लेना कि कबीर जी सिर्फ़ भांग तथा शराब से रोकते हैं तथा पोस्त अफ़ीम के लिये मना नहीं करते। इस तरह यह बात भी नहीं कि यहाँ मछली का माँस खाने से रोक रहे हैं। सारे प्रसंग को मिलाकर पढ़ें। सतसंग भी करना तथा विकारों में भी लिप्त रहना—कबीर जी इस कार्य से रोकते हैं। कामी लोग आमतौर पर शराब-माँस का सेवन करके काम-वासना, व्यभिचार में प्रवृत्त होते हैं, तथा मछली का माँस क्योंकि काम-रूचि बढ़ाने के लिये प्रसिद्ध है, इसलिये कबीर जी ने भांग, मछली, शराब शब्दों का प्रयोग किया है।

अर्थ : हे कबीर ! जो लोग "भगतन सेती गोसटे" करके तीर्थ-यात्रा, व्रत, नियम, आदि भी करते हैं तथा वे शराबी लोग भांग मछली भी खाते हैं (अर्थात, सतसंग में भी जाते हैं तथा शराब-कबाब भी खाते पीते हैं,

विकार भी करते हैं) उनके वे तीर्थ, व्रत, आदि वाले सारे कर्म बिलकुल व्यर्थ जाते हैं।२३३।

नीचे लोइन करि रहउ, ले साजन घट माहि ॥
सभ रस खेलउ पीअ सउ, किसी लखावउ नाहि ॥२३४॥

आठ जाम चउसठि घरी, तुअ निरखत रहै जीउ ॥
नीचे लोइन किउ करउ, सभ घट देखउ पीउ ॥२३५॥

सुनु सखी पीअ महि जीउ बसै, जीअ महि बसै कि पीउ ॥
जीउ पीउ बूझउ नही, घट महि जीउ कि पीउ ॥२३६॥

पद अर्थ : लोइन—आँखें। करि रहउ—मैं किये रखती हूँ। साजन—प्यारे पति-प्रभु को। घट माहि ले—हृदय में संभालकर। पीअ सउ—प्यारे प्रभु के साथ। खेलउ—मैं खेलती हूँ। लखावउ नाहि—मैं बताती नहीं।२३४।

जाम—पहर। आठ जाम—आठ पहर (*नोट :* दिन-रात के कुल आठ पहर होते हैं), दिन-रात हर समय। चउसठि घरी—चौसठ घड़ियाँ (*नोट :* एक पहर की आठ घड़ियाँ होती हैं, चौसठ घड़ियाँ के आठ पहर बने) आठ पहर, रात-दिन, हर समय। तुअ—(संः त्वां, तुआं) तुझे। निरखत रहै—देखती रहती है। जीउ—मेरे प्राण। नीचे...करउ—मैं किसी जीव की तरफ़ से नीची दृष्टि क्यों करूँ ? मैं किसी भी जीव से अब नफ़रत नहीं करती।२३५।

सुनु सखी—हे मेरी सखी ! सुन। पीअ महि—प्यारे प्रभु-पति में। जीउ—प्राण। जीअ महि—प्राणों में। कि—या। बूझउ नही—हे सखी ! तू समझ नहीं सकती।२३६।

अर्थ : (हे मेरी सतसंग की सहेली ! जबसे मुझे "साधू संगु परापती" हुई है, मैं "भगतन सेती गोसटे" ही करती हूँ, इस 'साधु-संग' की बरकत से) प्यारे प्रभु-पति को अपने हृदय में संभालकर (इन 'भांग माछुली सुरा' आदि विकारों से) मैं अपनी आँखें नीची करके रखती हूँ, (दुनियाँ के इन रसों से क्रीडा करने की जगह) मैं प्रभु-पति के साथ सारे रंग मानती हूँ लेकिन मैं (यह भेद) किसी को नहीं बताती।२३४।

(हे सखी ! मैं सिर्फ़ प्रभु-पति को ही कहती हूँ कि हे पति !) आठो पहर हर घड़ी मेरी आत्मा तुझे ही देखती रहती है। (हे सखी !) मैं सब शरीरों में प्रभु-पति को ही देखती हूँ, इसलिये मुझे किसी प्राणी-मात्र से नफ़रत नहीं है।२३५।

(हे सखी ! 'साधु-संग' की बरकत से मेरे अन्दर एक आश्चर्य युक्त क्रीडा बन गई है, मुझे अब यह पता नहीं लगता कि) मेरे प्राण प्रभु-पति में बस रहे हैं, या प्राणों में प्यारा आ बसा है। हे सखी ! तू अब यह समझ ही नहीं सकती कि मेरे अन्दर मेरे प्राण हैं या मेरा प्यारा प्रभु-पति।२३६।

कबीर बामनु गुरू है जगत का, भगतन का गुरु नाहि ॥
अरझि उरझि कै पचि मूआ, चारउ बेदहु माहि ॥२३७॥

पद अर्थ : अरझि—फंसकर। उरझि—उलझकर। पचि—ख़ुआर होकर, परेशान होकर। मूआ—मर गया है, आत्मिक मौत मर गया है, उसकी आत्मा प्रभु-मिलाप का जीवन नहीं जी सकी।

अर्थ : लेकिन, हे कबीर ! (कह—मुझे जो यह जीवन-दाति मिली है, जीवन-दाता सतिगुरु से मिली है, जो स्वयं भी नाम का रसिया है; जनेऊ आदि देकर तथा कर्म-काण्ड का रास्ता बताकर) ब्राह्मण सिर्फ़ दुनियादारों का ही गुरु कहलवा सकता है, भक्ति करने वालों का उपदेशदाता ब्राह्मण नहीं बन सकता, क्योंकि यह तो स्वयं ही चारों वेदों के यज्ञ आदि कर्म-काण्ड की उलझनों के बारे में सोच-सोचकर इनमें परेशान होकर आत्मिक मौत मर चुका है (इसकी अपनी ही आत्मा प्रभु-मिलाप का आनन्द नहीं ले सकी, यह भक्तों को वह आनन्द कैसे दिलवा सकता है ?)।२३७।

हरि है खांडु, रेतु महि बिखरी, हाथी चुनी न जाइ ॥
कहि कबीर गुरि भली बुझाई, कीटी होइ कै खाइ ॥२३८॥

पद अर्थ : रेतु महि—रेत में [*नोट :* शब्द 'रेतु' सदा उकारान्त (ु)-अंत होता है, वैसे यह स्त्री-लिंग है। इस शब्द का यही अंतिम (ु) संबंधक के साथ भी टिका रहता है]। हाथी—हाथी से। कहि—कहता

है। गुरि—गुरु ने। भली बुझाई—अच्छी मत दी है। कीटी—चींटी। होइ कै—बनकर। खाइ—खा सकता है।

अर्थ : परमात्मा का नाम मानो, खांड है जो रेत में बिखरी हुई है। हाथी से यह खांड रेत में से चुनी नहीं जा सकती। कबीर कहता है—पूरे सतिगुरु ने ही यह भली मत दी है कि मनुष्य चींटी बनकर यह खांड खा सकता है।२३८।

नोट : विनम्रता ग़रीबी की दाति ब्राह्मण से नहीं मिल सकती, क्योंकि उसके कर्म-काण्ड ने तो सिर्फ़ यह सिखाना है कि अमुक कर्म करने से ज़रूर अमुक फल मिल जायेगा। विनम्रता का उसकी शिक्षा में कोई स्थान ही नहीं है क्योंकि विनम्रता किसी कर्म-काण्ड का हिस्सा नहीं है। यह कर्म-काण्ड तो अहंकार पैदा करता है, क्योंकि इससे यह यकीन बनता है कि इसके करने से ज़रूर फल मिलना है। लेकिन परमात्मा का सिमरन स्वभाव में विनम्रता आये बिना हो ही नहीं सकता।

कबीर जउ तुहि साध पिरंम की, सीसु काटि करि गोइ ॥
खेलत खेलत हाल करि, जो किछु होइ त होइ ॥२३९॥

कबीर जउ तुहि साध पिरंम की, पाके सेती खेलु ॥
काची सरसउ पेलि कै, ना खलि भई न तेलु ॥२४०॥

पद अर्थ : तुहि—तुझे। साध—चाह। पिरंम—प्रेम। गोइ—गेंद। हाल करि—मस्त हो जा (*नोट :* नौशाहीए फ़कीर 'हाल' खेलते हैं तथा मस्त हो जाते हैं)। त होइ—होता रहे।२३९।

पाके सेती—पक्के (गुरु) के साथ, पूरे सतिगुरु की शरण में आकर। पेलि कै—पेडकर, दबाकर।२४०।

अर्थ : हे कबीर ! यदि तुझे प्रभु-प्रेम का खेल खेलने की चाह है तो अपना सिर काटकर गेंद बना ले (इस तरह अहंकार दूर करने पर लोग बेशक ठोकरें मारते रहें, "कबीर रोड़ा होइ रहु बाट का, तजि मन का अभिमानु")। यह खेल खेलता खेलता इतना मस्त हो जा कि (दुनियाँ की तरफ़ से) जो (व्यवहार तेरे साथ) हो, वह होता रहे।२३९।

लेकिन, हे कबीर ! यदि तुझे प्रभु-प्रेम का यह खेल खेलने की चाह है तो पूरे सतिगुरु की शरण में आकर खेल (कर्म-काण्डी ब्राह्मण के पास यह चीज़ नहीं है)। कच्ची-सरसों को पेडने से न तेल निकलता है और न ही खल बनती है (यही हाल जनेऊ आदि देकर बने कच्चे गुरुओं का है)।२४०।

ढूंढत डोलहि अंध गति, अरु चीनत नाही संत ॥
कहि नामा किउ पाईऐ, बिनु भगतहु भगवंतु ॥२४१॥

पद अर्थ : डोलहि—भटकते हैं। गति—हालत। अंध गति—जैसे अंधों की हालत होती है, अंधों जैसे। अरु—तथा। चीनत नाही—पहचानते नहीं। कहि—कहे, कहता है। किउ पाईऐ—नहीं मिल सकता। बिनु भगतहु—भक्ति करने वाले लोगों (की संगति) के बिना। भगवंतु—भगवान्, परमात्मा।

अर्थ : नामदेव कहता है कि भक्ति करने वाले मनुष्यों (की संगति) के बिना भगवान् नहीं मिल सकता, जो मनुष्य (प्रभु की) खोज तो करते हैं, लेकिन भक्त-जनों को पहचान नहीं सकते, वे अंधों की तरह ही भटकते हैं।२४१।

हरि सो हीरा छाडि कै, करहि आन की आस ॥
ते नर दोजक जाहिगे, सति भाखै रविदास ॥२४२॥

पद अर्थ : सो—जैसा। करहि—करते हैं। आन—अन्य। दोजक—नरक, वह स्थान जहाँ जीवों को दुःख ही दुःख भोगने पड़ते हैं। जाहिगे—(अर्थात) जाते हैं, पड़ते हैं। दोजक जाहिगे—नरकों में पड़ते हैं, दुःख ही दुःख भोगते हैं। सति—सत्य, सच्ची बात। भाखै—कहता है।

अर्थ : (सारे सुख प्रभु के सिमरन में हैं, लेकिन) जो मनुष्य परमात्मा का नाम-हीरा छोड़कर अन्य स्थानों से सुखों की आशा रखते हैं, वे लोग सदा दुःख ही भोगते हैं—यही सच्ची बात रविदास बताता है।२४२।

नोट : भक्त नामदेव जी तथा भक्त रविदास जी के कोई श्लोक नहीं हैं, सिर्फ़ शब्द हैं। जैसे श्लोक अंक २१२ तथा २१३ तो कबीर जी के

अपने उच्चारण किये हुये हैं, वैसे ही यह श्लोक अंक २४१ तथा २४२ भी कबीर जी के अपने ही हैं। कबीर जी कहते हैं कि हमने उनकी वाणी पढ़कर देखी है, वे भी हमारे साथ ही सहमत हैं।

कबीर जउ ग्रिहु करहि त धरमु करु, नाही त करु बैरागु ॥
बैरागी बंधनु करै, ता को बडो अभागु ॥२४३॥

पद अर्थ : जउ—यदि। ग्रिहु करहि—तुम घर बनाते हो, तुम गृहस्थी बनते हो। त—तो। धरमु—फ़र्ज़, गृहस्थी वाला फ़र्ज़।

नोट : गृहस्थी के लिये वह कौन-सा धर्म है जिसकी ओर इस अंतिम श्लोक में संकेत है ?

श्लोक अंक २२८ से लेकर २४२ तक ध्यान से पढ़ें। एक ही ख़याल की सुन्दर लड़ी चली आ रही है कि विकारों तथा वाद-विवाद की तपश में जलते इस संसार के अन्दर परमात्मा का नाम ही सुन्दर छाया वाला वृक्ष है। यह नाम कर्म-काण्डी ब्राह्मण से नहीं मिल सकता। इसकी प्राप्ति केवल 'साधु-संग' से ही है, पूरे-गुरु से ही है। श्लोक अंक २४२ में सारी विचार को समाप्त करके तथा रविदास जी के ख़यालों का हवाला देकर कहते हैं कि यदि विकारों तथा वाद-विवाद के नरक की तपश से बचना है तो परमात्मा के नाम का ही सिमरन करो। बस ! यही है गृहस्थी का धर्म।

यदि इन श्लोकों को पिछली तरफ़ से पढ़ना शुरू कर दो, तो इस धर्म की प्रोढ़ता के लिये श्लोक अंक २३४, २३५ तथा २३६ पर नज़र जा टिकेगी। अंक २३७ से २४१ तक तो सिर्फ़ इस बात पर ज़ोर है कि यह 'धर्म', यह आत्मिक जीवन, संताप दूर करने वाला यह साधन, कर्म-काण्डी ब्राह्मण से नहीं मिलता, सिर्फ़ पूरे गुरु से ही मिल सकता है। अंक २३४, २३५ तथा २३६ में इस 'धर्म' का निर्णय इस प्रकार किया है कि 'किरत-कार' के साथ साथ प्रभु का नाम सिमरो, इस सिमरन की बरकत से विकारों की तपश से बचे रहोगे तथा किसी प्राणी-मात्र से नफ़रत नहीं रहेगी।

श्लोक अंक १९२ में तो कबीर जी खुले शब्दों में 'घर' का 'धर्म' बता आये हैं :

कबीर जा घर साध न सेवीअहि, हरि की सेवा नाहि ।।
ते घर मरहट सारखे, भूत बसहि तिन माहि ।।१९२।।

सो, गृहस्थी का धर्म है—भले लोगों की सेवा तथा प्रभु की बंदगी।

बैरागु—त्याग। अभागु—बदकिस्मती।

नोट : कबीर जी इंसानी जीवन को दो भागों में नहीं बाँट रहे। गृहस्थी जीवन के ही हक्क में हैं, लेकिन वह गृहस्थी नहीं जो दातार को बिसारकर उसकी दी हुईं दातों में ही अंधा हुआ रहे। कबीर जी कहते हैं कि विकारों में लिप्त रहने की अपेक्षा, सिर्फ़ विकारी जीवन से, 'त्याग' अच्छा है। गृहस्थी के विकारी जीवन और त्याग की तुलना करते हुये इन दोनों में से 'त्याग' को अच्छा कह रहे हैं, वह त्याग पूर्ण त्याग हो, पाखंड न हो।

अर्थ : हे कबीर ! यदि तू गृहस्थी बनता है तो गृहस्थों वाले फ़र्ज़ का भी निर्वाह कर (अर्थात, प्रभु का सिमरन कर, विकारों से बचा रह तथा किसी से नफ़रत न कर। लेकिन गृहस्थ में रहकर) यदि तूने माया में ही लिप्त रहना है तो इसको त्यागना ही भला है। त्यागी बनकर जो मनुष्य फिर भी साथ साथ माया का जंजाल बनाता है, उसकी बड़ी बदकिस्मती समझो (वह किसी योग्य नहीं रहा) ।२४३।

नोट : सर्वप्रथम श्लोक अंक १ में कबीर जी ने यह कहा है कि जब से संसार बना है, इंसान के लिये सुख तथा शान्ति का साधन सिर्फ़ हरि-नाम ही चला आ रहा है, यही कारण है कि आदि-काल से भक्त-जन हरि-नाम का ही सिमरन करते आ रहे हैं। अन्त में आकर श्लोक अंक २४२ में कहते हैं कि जो मनुष्य हरि-नाम बिसारकर किसी अन्य स्थान से सुख-शान्ति की आशा करते हैं वह ग़लती कर रहे हैं। सबसे अंतिम श्लोक अंक २४३ में कबीर जी ने यह मोहर लगा दी है तथा फ़ैसला दे दिया है कि बस ! हरि-नाम ही गृहस्थी का मुख्य धर्म है, यदि हरि-नाम को बिसारकर सांसारिक भोगों तथा विकारों से मनुष्य सुख ढूँढ़ता है तो यह इसकी मूर्खता है। मनुष्य के लिये गृहस्थी जीवन ज़िन्दगी का सही रास्ता है लेकिन वह भी तभी, यदि इसमें हरि-नाम का सिमरन करे, नहीं तो जीवन गंदा कर लेने से बेहतर है घर-बार छोड़ दे।

पाठकों के लिये यह बात ध्यान-योग्य है कि जिस ख़याल से इन श्लोकों को कबीर जी ने शुरू किया है वहीं आकर ख़त्म किया है। सभी श्लोकों में एक ही विषय 'हरि-नाम का सिमरन' पर उसके भिन्न भिन्न पहलू लेकर विचार किया गया है। इसलिये यह कहना बिलकुल ग़लत है कि ये श्लोक अलग-अलग (स्वतंत्र) हैं, इनमें कोई मिला-जुला भाव नहीं है।

